महामहोपाध्याय महेशचन्द्र न्यायरत्न का

नव्यन्याय-भाषाप्रदीप

हिन्दी अनुवाद

(रेखाकृतियों सहित)

डॉ. उज्ज्वला झा

श्रुतभवन संशोधन केंद्र
पुणे

श्रुतदीपग्रन्थश्रेणिः ३२

ग्रंथनाम - नव्यन्याय-भाषाप्रदीप (हिंदी)
मूलकर्ता - महेशचन्द्र न्यायरत्न
विषय - तत्त्वज्ञान
हिंदी अनुवाद - डॉ. उज्ज्वला झा
प्रकाशक - श्रुतदीप रिसर्च फाउंडेशन - श्रुतभवन संशोधन केंद्र, पुणे
पत्र - २६ + १५० = १७६
आवृत्ति - प्रथम, वि.सं.२०७४, ई.२०१८
मूल्य - १०० रु.
स्वामित्व - श्रमणसंस्थाधीनश्रुतदीपानुसन्धानसंस्थानम्।

-: प्राप्तिस्थल :-

पुणे : **श्रुतभवन संशोधन केन्द्र**
४७/४८ अचल फार्म, आगम मंदिर से आगे,
सच्चाई माता मंदिर के पास, कात्रज, पुणे-४११०४६
Mo.7744005728 (9-00am to 5-00pm)
www.shrutbhavan.org Email : shrutbhavan@gmail.com

अहमदाबाद : **श्री उमंगभाई शाह**
बी-४२४, तीर्थराज कॉम्प्लेक्स, वी. एस. हॉस्पिटल के सामने
मादलपुर, अहमदाबाद. मो.०९८२५१२८४८६

मुंबई : **श्री गौरवभाई शाह**
सी/१११, जैन अपार्टमेंट, ६० फीट रोड, देवचंद नगर रोड, भायंदर (वेस्ट) मुंबई-४०११०१. मो.०९८३३१३९८८३

सुरत : **श्री सेवंतीलालभाई मेहता**
ओंकारसूरि ज्ञानमंदिर, सुभाष चौक,
गोपीपुरा, सुरत - ३९५००१
मो. ९८२४१५२७२७

मुद्रण : **नूतन आर्ट,** अहमदाबाद

प्रकाशकीय

महामहोपाध्याय **महेशचन्द्र न्यायरत्न** के द्वारा विरचित **नव्यन्याय-भाषाप्रदीप** का हिंदी में अनूदित ग्रंथ श्रीसंघ के करकमल में समर्पित करते हुए हमे आनंद की अनुभूति हो रही है। श्रुतभवन संशोधन केंद्र के सन्निष्ठ समर्पित सहकारिगण की कडी महेनत और लगन से यह दुर्गम कार्य संपन्न हुआ है। इस अवसर पर श्रुतभवन संशोधन केंद्र के संशोधन प्रकल्प हेतु गुप्तदान करने वाले दाता एवं श्रुतभवन संशोधन केंद्र के साथ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुडे हुए सभी महानुभावों का हार्दिक अभिनंदन करते हैं। हम उन संस्था एवं विद्वानों के भी आभारी है जो हमें मार्गदर्शन और सहाय करते हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन का अलभ्यलाभ परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय **नयभद्रसूरीश्वरजी** म.सा. की प्रेरणा से **तपागच्छ उदयकल्याण जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक ट्रस्ट, बोरीवली - मुंबई** ने ज्ञानद्रव्य से प्राप्त किया है। आपकी अनुमोदनीय श्रुतभक्ति के लिये हम आपके आभारी है। अक्षरयोजन का कार्य नूतन आर्टस् के धर्मेशभाई पटेल ने उत्साह से किया। एतदर्थ उनको धन्यवाद।

भरत शाह

(मानद उपाध्यक्ष)

श्रुतप्रेमी

सुविशाल गच्छाधिपति परम पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजय **रामचंद्रसूरीश्वरजी** म.सा. के शिष्यरत्न

परम पूज्य अध्यात्मयोगी

पंन्यास श्री **भद्रंकरविजयजी** गणिवर के शिष्यरत्न

हालारदेशे सद्धर्मसंरक्षक परम पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजय **कुंदकुंदसूरीश्वरजी** म.सा. के शिष्यरत्न

वर्धमान तपोनिधि परम पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजय **नयभद्रसूरीश्वरजी** म.सा. की प्रेरणा से

आचार्य पद प्रसंग पर उत्पन्न ज्ञानद्रव्य से

तपागच्छ उदयकल्याण जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक ट्रस्ट

बोरीवली, मुंबई

॥श्री गुरुभ्यो नमः॥

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि

यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि।

संस्कारशौचेन परं पुनीते

शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥

अनुक्रमणिका

आमुख

नव्य-न्याय का अध्ययन का प्रसार समूचे भारतवर्ष में करने के अपने लक्ष्य के प्रति प्रा.वसिष्ठ नारायण झा ने पहला कदम बढ़ाया मई २००० में। वैसे नव्य-न्याय के अध्ययन के लिए छोटे छोटे क्रमिक पाठ्यक्रम बनाने का विचार उनके मन में कई वर्षों से था, लेकिन वास्तव में इसका आरंभ हुआ सन २००० में, दक्षिण भारत के कालडी संस्कृत विश्वविद्यालय से। कालडी में श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय के तब कुलपति थे प्रा.एन्.पी.उन्नी।

नव्य-न्याय का प्रथम पाठ्यक्रम अपने यहाँ पढ़ाने की उन्होंनेही पहल की और यह विशेष प्रकार का अभिनव पाठ्यक्रम उनके विश्वविद्यालय में १५ मई से २६ मई तक पहली बार पढ़ाया गया। इस में संस्कृत और दर्शन विभाग के कुल २५ के क़रीब अध्यापकों ने सहभाग लिया था।

इस पाठ्यक्रम के दो विभाग बनाए थे। पहला था भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्तों का विवेचन और दूसरा १९ वी सदी की एक नव्य-न्याय की पुस्तक का पठन। दोनों विभागों के लिए दो-दो घंटे के दो सत्र प्रतिदिन चले थे। प्रा.झा ने यह सारे सत्र स्वयं पढाए। सारे भागग्राहकों ने इस पाठ्यक्रम की प्रशंसा की।

कोलकाता की एशियाटिक सोसायटी में यही पाठ्यक्रम २२ अक्तूबर से ३ नवंबर तक पुनः पढ़ाया गया। तब सोसायटी के सेक्रेटरी थे प्रा.मानबेन्दु बॅनर्जी। उन्हीं के आग्रह से यह पाठ्यक्रम वहाँ पढ़ाया गया। उनकी यह इच्छा थी कि मैं भी कुछ सत्र पढाऊँ। प्रा.झा ने प्रस्ताव रखा कि मैं पुस्तक-पठन के सत्र में उनकी सहायता करूँ। इस प्रकार मैंने तीन दिनों तक महेशचन्द्र न्यायरत्न की उन्नीसवीं सदी की पुस्तक नव्य-न्याय-भाषा-प्रदीप सोसायटी में आयोजित उस पाठ्यक्रम में पढ़ाई। युनिव्हर्सिटी और कॉलेज से आए संस्कृत तथा दर्शन के सारे प्राध्यापकों ने इसकी स्तुती की और इस प्रकार मुझे ज्ञात हुआ कि मैं इस पाठ्यक्रम में सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ाने का दायित्व ले सकती हूँ। इससे दो लाभ होने वाले थे—

१) संपूर्ण पुस्तक इस पाठ्यक्रम के अंतर्गत पढ़ी जाएगी। इसका पठन अपूर्ण नहीं रहेगा और

२) प्रा.झा को सहायता मिलने से उन्हे थोड़ा विश्राम मिलेगा।

मेरे लिए यह अधिक आवश्यक था। इस प्रकार बरोड़ा के ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट ने जब यह पाठ्यक्रम आयोजित किया तब मैंने पूरा टेक्स्ट पढ़ाया। यह पाठ्यक्रम १७ मई २००१ से २८ मई २००१ तक आयोजित हुआ था।

इसके पश्चात् अबतक यह पाठ्यक्रम भारत में बहुत सारी संस्थाओं में पढ़ाया गया। जैसे संस्कृत प्रगत अध्ययन केंद्र, पुणे विश्वविद्यालय; जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; चिन्मय इंटरनॅशनल फाउण्डेशन, वेलियनाड, कोची; श्री माता वैष्णोदेवी विश्वविद्यालय, कटरा, जम्मु; जादवपुर विश्वविद्यालय, कोलकाता; सेंटर फॉर इंग्लिश एण्ड फॉरेन लॅंग्वेजेस(अब यह इंग्लिश एण्ड फॉरेन लॅंग्वेजेस युनिव्हर्सिटी बन गई है) हैदराबाद; राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गुरुवायुर; इन्स्टिट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडी, शिमला इत्यादि। अभी भी इस पाठ्यक्रम में सहभाग लेने के लिए बहुत सारे संस्कृत, दर्शन तथा संगणक-शास्त्र के अध्यापक उत्सुक रहते हैं। शिमला की इन्स्टिट्यूट ऑफ एडव्हान्स्ड स्टडी में यह पाठ्यक्रम तीनों स्तर में पढ़ाया गया। प्रा. झा का सहयोग मैंने इसमें केवल एक ही बार और वह भी केवल तीन दिन के लिए दिया। दो मई २०११ से १३ मई २०११ तक यह पाठ्यक्रम शिमला में पढ़ाया गया। इस पाठ्यक्रम के तीन स्तर हैं। पहले स्तर में महेशचन्द्र न्यायरत्न का नव्यन्यायभाषाप्रदीप पढ़ाया जाता है। इससे नव्य-न्याय की भाषा का निर्माण कैसे होता है इसके विषय में अच्छे से जानकारी मिलती है। दूसरे स्तर में नव्य-न्याय की शाब्द-बोध-प्रक्रिया का ज्ञान कराने के लिए विश्वनाथ की न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के शब्दखण्ड का पठन होता है एवं तीसरे स्तर में नकारात्मक वाक्यों के शाब्दबोध का परिचय कराने हेतु रघुनाथ शिरोमणि के नञ्-वाद का अध्ययन-अध्यापन होता है। अबतक इस पाठ्यक्रम में भारतवर्ष की विविध संस्थाओं में कार्यरत बडे बडे अध्यापक-प्राध्यापकों ने भागग्रहण किया। यहाँ तक कि बडोदा में, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय के पूर्व-कुलपति जो गुजराती के जाने-माने कविवर्य हैं, प्रा.सितांशु मेहता ने पूरे मनोयोग से इस पाठ्यक्रम कार्यशाला में सहभाग लिया एवं कार्यशाला के अन्त में होने वाली परीक्षा का भी सामना किया। उन्हें यह कार्यशाला बहुत ही पसंद आयी। बहुत सारी संस्थाओं में कितने ही अध्यापक-प्राध्यापकों ने इन कार्यशालाओं में सहभाग लिया, उन सबका विवरण देना आवश्यक नहीं है किन्तु

इन सब कार्यशालाओं से हमे बहुत ऊर्जा मिली। इस प्रकार की कार्यशालाओं की आवश्यकता है यही सत्य अधोरेखित होता गया। इसी कारण अब भी, अठारह सालों के पश्चात् यह कार्यशाला विभिन्न स्थानों पर चल रही है और सारे भागग्राहक इस में पुनः पुनः सहभाग लेना चाहते हैं।

कोची में एक विद्यार्थिनी ने मुझसे कहा कि, जीवन में संस्कृत सीखेंगे यह तो उसने कभी सोचा ही नहीं था। यहाँ तक कि उसे देवनागरी लिपि का ज्ञान भी नहीं था लेकिन यह कार्यशाला करने के बाद उसे लगता है कि जो भी हो, उसे संस्कृत सीखना ही है। वह इससे मुँह नहीं मोड़ सकती। मेरे विचार से किसी अध्यापक के लिए इससे बड़ा पुरस्कार नहीं हो सकता।

कोची में सन २००४ में आयोजित कार्यशाला की एक और विशेषता यह भी थी कि इस कार्यशाला में नव्य-न्याय के साथ-साथ पूर्वमीमांसा दर्शन का परिचय भी कराया गया। नव्य-न्याय की ही तरह पूर्वमीमांसा दर्शन और व्याकरण का ज्ञान भी प्राचीन विद्याभाण्डार आत्मसात् करने के लिए नितांत आवश्यक है। इसलिए न्याय के साथ ही इन दो दर्शनों के भी पाठ्यक्रम बनाना आवश्यक है। इनमें से पूर्वमीमांसा दर्शन के पाठ्यक्रम को पढाने का आरंभ मई-जून २००४ में कोची में हुई। सब ने इसका भी स्वागत किया। अब इस दर्शन के तीन स्तर के तीन पाठ्यक्रम की डिव्हिडी उपलब्ध हुई हैं। इनसे इनमें भाग लेने वाले तथा भाग लेने में असमर्थ रहे अध्यापकों को लाभ होगा।

नव्य-न्याय-भाषा-प्रदीप का अंग्रेजी अनुवाद एशियाटिक सोसायटी, कोलकाता ने सन २००४ में प्रकाशित किया। सन २०१० में इसका पुनर्मुद्रण भी हुआ। इसका हिन्दी रूप भी प्रकाशित हो यह पूज्य गणिवर वैराग्यरतिविजयजी महाराज की मनीषा मुझे आशीर्वाद स्वरूप लगी और इस दायित्व का मैंने आनंद से स्वीकार किया। इस आशीर्वाद से मैं महाराजजी की ऋणी हो गई हूँ।

इस काम को पूरा करने में जिन सब व्यक्तिओं का सहयोग मिला उन सबकी मैं हृदय पूर्वक आभारी हूँ। मनुष्य का कोई भी काम उसके अकेले के बलबूतेपर निर्भर नहीं होता। उसमें बहुतों का सहयोग, बहुतों का निरपेक्ष या सापेक्ष सहाय्य कारणीभूत होता है। तभी कोई मनुष्य अपना काम पूरा कर पाता है, अन्यथा नहीं।

हिन्दी भाषा के विषय में मेरी छोटी छोटी सब शंकाओं का निरसन करने के लिए मेरे सहकर्मी डॉ. देवनाथ त्रिपाठीजी को मैं धन्यवाद देती हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे इस काम में मुझे जिन सब का सहयोग मिला, जिन सब छात्र-छात्राओं ने मेरा ढ़ाँढ़स बँधाया उन सब का नम्रतापूर्वक स्मरण करना मैं अपना कर्तव्य मानती हूँ और उनका स्मरण करते हुए, पुनः एकवार महाराजजी का प्रणामपूर्वक धन्यवाद करते हुए इस 'आमुख' का समापन करती हूँ।

—**उज्ज्वला झा**

पुणे

प्रस्तावना

भारतीय न्याय-दर्शन को सामान्यतः दो कलाओं में विभक्त किया जाता है : प्राचीन और नवीन या नव्य। ईसा के आरंभ से लेकर दसवीं सदी तक प्राचीन न्याय की कला और दसवीं सदी से लेकर आजतक नव्य-न्याय की कला को हम मानतें हैं। इस नव्य-न्यायरूपी दूसरी कला का प्रारंभ यद्यपि ईसा की दसवीं सदी में हुआ था इसका चरम विकसित रूप हमें देखने को मिलता है गङ्गेशोपाध्याय द्वारा लिखे गए 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में। गंगेशोपाध्याय का काल माना जाता है— १४ वी सदी।

जैसे प्राचीन न्याय गौतममहर्षी के 'न्यायसूत्र' पर वात्स्यायन द्वारा लिखित भाष्य के ऊपर लिखे गए वार्तिक और टीकाओं द्वारा विकसित हुआ ठीक उसी प्रकार गंगेश के 'तत्त्वचिन्तामणि' पर लिखी गई बहुत सारी टीका-उपटीकाओं द्वारा नव्यन्याय का विकास हुआ।

'सारी पारिभाषिक संज्ञाओं के लक्षण बनाना और एक ऐसी नई भाषा की उद्भावना करना जिससे दार्शनिकों में असन्दिग्ध संवाद हो सके यह दो नव्यन्याय के प्राथमिक लक्ष्य थे। ऐसी नई कृत्रिम भाषा का निर्माण इसलिए आवश्यक था क्योंकि निसर्गदत्त या स्वाभाविक भाषा का एक मौलिक धर्म है— उसमें होने वाली सहजसंभव सन्दिग्धता। नैसर्गिक भाषा सम्पूर्णतः सन्दिग्धता से मुक्त नहीं हो सकती। आइए, एक उदाहरण लेकर इसे जानने का प्रयास करते हैं। मान लो कि किसी ने कहा, 'फला व्यक्ति इस कक्ष में है और दूसरे किसीने कहा कि वह व्यक्ति इस कक्ष में नहीं है। दोनों कह रहे हैं कि वे जो कह रहें हैं वह सत्य है। अब अगर वे दोनों सही हैं और अगर हमने दोनों के विधानों को जोड़ दिया तो एक विधान हमे मिलेगा और वह होगा—'क्ष' व्यक्ति इस कक्ष में है और 'क्ष' व्यक्ति इस कक्ष में नहीं है। अब यदि हम पहले विधान को 'P' नाम देते हैं तो हमे मिला हुआ वह दो विधानों को जोड़कर बनाया हुआ विधान होगा 'P' और -'P' जिसे सिम्बॉलिक लॉजिक में कुछ इस प्रकार लिखते हैं— P.~P.यह एक परस्पर विरोध का उदाहरण है। इस का सीधा सा अर्थ है कि यह दो विधान एक ही समय में सत्य नहीं हो सकतें। यहाँ एक बात हमारे

ध्यान में आ गई कि, 'विरोध' की संकल्पना को समझने के लिए हम ने 'समय'का सहारा लिया। मतलब, उपरोक्त दो विधान अगर भिन्न भिन्न समयपर किए जाए तो उनमें विरोध नहीं होगा। जैसे पहला विधान सुबह और दूसरा विधान श्याम को किया जा सकता है। इस तरह 'समय' तत्त्व का सहारा लेकर विरोध दूर हो गया।

आइए, अब एक दूसरी संभावना का विचार करें। अगर कोई युक्तिवाद करे कि यह दोनों विधान एक ही समय पर सत्य हैं, तो हम यह बात भी मान लेंगे। उसके लिए हमें केवल मूल विधान में आए 'कक्ष' शब्द का अर्थ थोडा बदलना होगा। इसे इस तरह से समझा जा सकता है— चूँकि 'क्ष' व्यक्ति एक मर्यादित परिमाण वाला है, वह समूचे 'कक्ष' को व्याप्त नहीं कर सकता। अर्थात् 'क्ष' उस कक्ष में किसी निर्धारित स्थान पर, जैसे कि कुर्सी पर, ही विद्यमान होगा तथा 'कक्ष' में अन्यत्र सर्वत्र उसका ('क्ष' का) अभाव ही होगा। इस तरह यदि हम एक ही समय पर 'क्ष' के कक्ष में होने और न होने की बात कर रहे हैं तो 'कक्ष का हिस्सा' या 'कक्ष की कोई विशेष इकाई' को अगर हम हमारे मूल विधान में डाल देते हैं, तो ('क्ष' के होने-न होने के बारे में) सारा विरोध चला जाएगा और हमारा मूल विधान 'निरर्थक' होने से बच जाएगा। बस यही नव्यन्याय द्वारा अपनाया गया तकनीक है— इसीसे निसर्गदत्त या स्वाभाविक भाषा के प्रयोग से निर्माण होने वाली संदिग्धता दूर हो जाती है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि नव्यन्याय ने इसी एक पहलू पर अपना ध्यान क्यों केंद्रित किया? इसका सीधा उत्तर है क्योंकि इसकी बहुत आवश्यकता थी। चलिए, प्रारंभ से सोचते हैं— दार्शनिक चिन्तन का एकमात्र साधन है— वाद-युक्तिवाद— वाद से ही 'तत्त्व' का ज्ञान सम्भव है। कहा ही है— **वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।**

हमारे देश के सारे तत्त्वचिन्तकों ने 'दार्शनिक चिन्तन' के लिए यही प्रणाली अपनाई थी और सदियों तक उन दार्शनिकों में इसी तरह विचार-विमर्श होता रहा विशेष कर बौद्ध दार्शनिक तथा नैयायिकों में इस तरह सैंकड़ो वर्षों तक दार्शनिक तत्त्वों पर चर्चा होती रही। इस चर्चा के दौरान किसी एक पक्ष से किए गए लक्षण या किसी एक पक्ष द्वारा किया गया युक्तिवाद दूसरे पक्ष ने अन्यथा समझा। ऐसा एक बार नहीं अपि तु कई बार हुआ। कोई अगर न्याय-ग्रंथों का अध्ययन करे तो यह

बात स्पष्ट रूप से सामने आएगी। इसी कारण परवर्ती दार्शनिकों को पहले किए गए लक्षण बार बार बदलने पड़े। हम समझ सकते हैं कि इस वस्तुस्थिती के कारण ही एक ऐसी नई भाषा का निर्माण अनिवार्य हो गया होगा कि जो भाषा गणित की भाषा की ही तरह संदिग्धता से मुक्त हो। इसी भाषा का प्रयोग यदि दार्शनिक चिन्तन के लिए किया जाए तो दार्शनिकों के दो पक्षों में संदिग्धता के कारण होने वाले विभ्रम के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा।

इसी बात पर भारतीय दार्शनिकों द्वारा किए गए सूक्ष्म विचार-मंथन का परिपाक है हमारी नव्यन्याय की परिभाषा। इसे हम 'नव्यन्याय-भाषा' के नाम से जानते हैं।

गङ्गेशोपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ और उस पर लिखे गए भाष्यों के अध्ययन से एक बात अच्छी तरह ध्यान में आती है कि नव्य-न्याय ने असन्दिग्ध भाषा निर्माण करने का ही भरसक प्रयास किया। और फिर एक और बात भी समझ में आती है कि प्राचीन न्याय को प्रमेय-प्रधान तथा नव्य-न्याय को प्रमाण-प्रधान क्यों कहा जाता है। हमारे नव्य-न्याय-भाषा-प्रदीप के रचयिता महेशचन्द्र न्यायरत्न कहते हैं— A hair-splitting subtlety in the discussion of meanings of terms is, thus, the distinguishing characteristic of modern nyāya. Poverty of matter is its greatest draw-back. (अर्थात्, 'संज्ञा'ओं के अर्थ के बारे में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन करना यह नव्यन्याय की विशेषता है। विषयवस्तु की सघनता का अभाव यह इसका बड़ा सा न्यून है।) लेकिन फिर झट् से यह कहने से भी नहीं चूकते कि, Notwithstanding this draw-back, however, it is an excellent training for the intellect, which, under its discipline, acquires a power of precise thinking that is beyond all price. Without a study of modern nyāya, it is impossible, again, to thoroughly understand certain Sanskrit works on philosophy, Law, Rhetoric and even Grammar; for example, the Citsukhī, a commentary by Citsukhācārya on the Nyāyamakaranda (a treatise on the Vedānta philosophy by Ānandabodha) the Dāyabhāgaprabodhini, a commentary by Śrīkṛṣṇa Tarkālaṅkāra on Dāyabhāga (a treatise on the Hindu Law of inheritance), the Kāvyaprākaśādarśa, a commentary by

Maheśvara Nyāyālaṅkāra on Kāvyaprakāśa (a work on Rhetoric) and Paribhāṣenduśekhara and Mañjuṣa (works on Grammar) by NāgeśaBhaṭṭa.” (अर्थात् : इस न्यूनता के रहते हुए भी, यह बात सत्य है कि, यह (नव्य न्याय) बुद्धि के लिए एक अनोखी शिक्षा प्रदान करता है जो (बुद्धि) इसकी शिक्षा के कारण असंदिग्ध एवं अचूक विचार करने का सामर्थ्य पाती है जो कि इसकी एक अनमोल देन है। नव्यन्याय के अध्ययन के बिना कई संस्कृत ग्रंथों को पूर्णतः जानना असंभव है उदाहरण के तौर पर चित्सुखाचार्य की 'न्यायमकरंद' के ऊपर जो टीका है 'चित्सुखी', श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार की दायभाग (जो हिन्दु लॉ के दायभाग का ग्रन्थ है) के ऊपर लिखी गई टीका; महेश्वर न्यायालङ्कार द्वारा लिखी गई 'काव्यप्रकाशादर्श' नामक टीका, जो कि, काव्यप्रकाश (काव्यशास्त्र का एक ग्रंथ) की टीका है; और नागेश भट्ट द्वारा विरचित (व्याकरण के ऊपर लिखे गए दो ग्रन्थ अर्थात्) 'परिभाषेन्दुशेखर' और 'मञ्जूषा' आदि ग्रंथों का विचार हो सकता है। (नव्यन्यायभाषाप्रदीप, पृ. २ और ३ द्रष्टव्य)

हमारे लेखक की यह टिप्पणी दो बातों को पूरी तरह स्पष्ट करती है:१) नव्य-न्याय की उपयोगिता और २) नव्य-न्याय की मर्यादा। नव्य-न्याय की मर्यादा की चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है। यहाँ हम उसकी उपयोगिता के बारे में चर्चा करते हैं। हमारे लेखक ने ऊपर उल्लिखित कुछ गिने-चुने शास्त्रीय ग्रंथों का निर्देश किया है जिनका अध्ययन नव्य-न्याय के ज्ञान के बिना संभव नहीं। यह बात सही है क्योंकि नव्य-न्याय की भाषा का निर्माण होने के पश्चात् सभी शास्त्रकारों ने अपने अपने ग्रंथ की रचना में इसी भाषा को अपनाया। इसका कारण यह था कि इस भाषा में असन्दिग्ध रीती से विचार प्रगट करने का सामर्थ्य है। इसीलिए १४वी सदी के बाद सारे शास्त्रीय ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए।

इन ग्रंथों में से किसी भी ग्रंथ के अध्ययन के लिए नव्यन्याय की भाषा का ज्ञान नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार 'गणित' के ज्ञान के बिना भौतिकशास्त्र(Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry)या जीवशास्त्र (Biology)(और मानसशास्त्र (Psychology)तथा समाजशास्त्र (Sociology) भी) का अध्ययन ठीक से नहीं हो पाएगा उसी प्रकार नव्यन्याय के ज्ञान के बिना शास्त्रों का अध्ययन संभव नहीं। इसी कारण से नव्य-न्याय का अध्ययन करना और उसे आत्मसात् करना आवश्यक

है (उसके लिए जो १४वी सदी के बाद लिखे गए ग्रंथों को समझना चाहता हो)। इस बात को ध्यान में रखते हुए हमारे लेखक ने नव्यन्यायभाषाप्रदीप नामक इस ग्रंथ की रचना का प्रपंच किया है। यह ग्रंथ मूलतः हमारे लेखक महेशचन्द्र न्यायरत्न द्वारा लिखा गया एक शोधनिबन्ध था। उन्नीसवी सदी के अन्त में महेशचन्द्र ने नव्यन्याय की परिभाषा और पद्धति को समझाते हुए यह शोधनिबंध अपनी विद्वत्तापूर्ण लेकिन सीधी-साधी और ओघवती वाणी में लिखा था। जब कालिपद तर्काचार्य ने अपना वंगभाषानुवाद और 'सुप्रभा' नामक टीका इसमें जोड़ दिए तब इस शोध-निबन्ध ने एक ग्रंथ का रूप ले लिया। यह पुस्तक कोलकाता के संस्कृत कॉलेज द्वारा सन १९७३ में प्रकाशित की गई। (द्रष्टव्य :Calcutta Sanskrit College Research Series No. Lxxix)

नव्यन्यायभाषाप्रदीप

जिस ग्रन्थ का हम अध्ययन करने जा रहे हैं उसके विषय में हमारे कुछ कहने से पहले इस ग्रन्थ के लेखक इसके बारे में क्या कहते हैं यह देखना रोचक होगा— वह कहते हैं— नव्य-न्याय की परिभाषा और उसकी पारिभाषिकता ने संस्कृत के छात्रों को उसके अध्ययन से दूर रखा। इन सारी परिभाषाओं को केवल शब्दों के आधार पर समझाने का नैयायिकों का तरीका पुराना है और उन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण वह एक गतानुगतिक ढंग से करते आए हैं। भीमाचार्य झलकीकर ने सन १८७५ में मुंबई से 'न्यायकोश' प्रकाशित किया। यह नव्यन्याय की पारिभाषिक संज्ञाओं का कोश है। इसमें दिये गए स्पष्टीकरण परिपूर्ण नहीं हैं और वैसे भी इस पुस्तक की जानकारी अबतक उतनी आम नहीं हुई है। इसीलिए मैं अपने इस शोधनिबंध में न्याय की परिभाषा या पारिभाषिक पदावली को सरल संस्कृत में समझाने का प्रयास करने जा रहा हूँ वह इसलिए कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम में मैं सारी बातें उसी स्पष्टता से समझा पाऊँगा यह आशा मैं नहीं कर सकता। न्याय के पंडितों ने अपनायी हुई उस पुरानी शैली का अनुसरण मैंने इस निबन्ध में नहीं किया है। उस शैली में समझाने से बातें पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सकती इसलिए उसे छोड देना ही मैंने बेहतर समझा...(द्रष्टव्य : नव्यन्यायभाषाप्रदीप, कोलकाता, १९७३, पृष्ठ ५)

मेरे विचार में हमारे लेखक का यह कथन, 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' लिखने

का प्रयोजन स्पष्ट करता है। इसी के साथ यह भी स्पष्ट है कि हमारे इस पाठ्यक्रम का और नव्यन्यायभाषाप्रदीप का प्रयोजन एक ही है। यही कारण है कि प्रा. झा ने 'नव्यन्याय : भाषा और पद्धति' के इस त्रिस्तरीय पाठ्यक्रम के पहले स्तर में पढ़ाने के लिए इस पुस्तक का चयन किया। एक ओर संस्कृत तथा दर्शन के शिक्षकों को और दूसरी ओर कम्प्यूटर, अभियांत्रिकी इ. विद्याशाखाओं से जुडे अध्यापकों को नव्यन्याय की परिभाषा और बहुत सारी संकल्पनाओं को समझाने में यह पुस्तक भली भाँति काम आती है। इस पुस्तक के हर वाचक को, 'यह चयन कितना सही है' इस बात का अनुभव यह पुस्तक पढ़ने के बाद अवश्य होगा।

आइये अब हम जो पुस्तक पढ़ने जा रहें हैं उसके विषय में थोडी जानकारी लेते हैं— यह पुस्तक लिखने के पीछे क्या भूमिका है, इसका क्या प्रयोजन है वह हमारे लेखक ने बताया है जो हमने देखा ही है। उनके इस कथन से पुस्तक के बारे में हमारे मन में जो अपेक्षाएँ जन्म लेती हैं वह सारी इस पुस्तक से पूर्णतः पूरी होती हैं। हमारे लेखक ने नव्यन्याय की केवल उस तकनीक पर ध्यान दिया है जिसके द्वारा नव्यन्याय की विशेष भाषा का जन्म हुआ।

पुस्तक के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए लेखक ने नव्य-न्याय का प्रमेय-विचार तथा प्रमाण-विचार गृहीतकस्वरूप रखा है। वह कभी भी प्रमेय या प्रमाणचर्चा नहीं करतें। नव्यन्याय की भाषा तैयार करने के तकनीक को समझाने के लिए वह सीधे उन संकल्पनाओं की चर्चा से पुस्तक का आरंभ करते हैं जो की इस कृत्रिम भाषा के गठन में सहाय्यकारी हैं। यह संकल्पनाएँ हैं—

१) धर्म और धर्मिन्

२) जाति और उपाधि

३) साक्षात् तथा परम्परासम्बन्ध

४) पर्याप्ति-सम्बन्ध

५) प्रतियोगिन् और अनुयोगिन्

६) अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव;

७) अवच्छेदक : धर्म, सम्बन्ध, काल इ.;

८) निर्विकल्पकज्ञान तथा सविकल्पकज्ञान;

९) सिद्धविशेषण और साध्यविशेषण;

१०) निश्चय और संशय।

हमारे लेखक ने जिनकी चर्चा की है उनमें से प्रमुख मुद्दे ही ऊपर उल्लिखित हैं। इनकी चर्चा करते समय महेशचन्द्र ने अपनी सरल तथा ओघवती शैली का परिचय देते हुए और भी कई मुद्दों का विचार किया है। उनकी विशेषता यह है कि, वह पहले अपना मुद्दा बतातें हैं, फिर उसे स्पष्ट रूप से समझाने के लिए उचित उदाहरण देतें हैं और उसके बाद बात को और सरल करने के लिए एक ऐसा निकष देते हैं कि जिससे शाब्दिक स्तर पर ही वह मुद्दा, वह बात समझ में आ जाए। उदाहरण के लिए हम उन्होंने किया हुआ अवच्छेदक धर्म का विवेचन (ग्रंथ ३०) या दो अभावों में भेद करने का विवेचन (ग्रंथ ३६) देख सकते हैं।

आइए, अब ऐसी कुछ बातें, कुछ मुद्दे देखते हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। हमारे लेखक की बताई कुछ बातों में थोड़े सुधार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए आइए, हम कुछ मुद्दों का विचार करते हैं—

१. वृत्तिनियामक सम्बन्ध और वृत्त्यनियामक संबंध में भेद-निरूपण के अवसर पर हमारे लेखक कहते हैं— पुनश्च सम्बन्धो द्विविधः वृत्तिनियामकः वृत्त्यनियामकश्च। यस्मिंश्च सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते, केवलं सम्बन्धितामात्रं स वृत्त्यनियामकः सम्बन्धः। तत्र सप्तमीविभक्तेः मतुबादिप्रत्ययस्य च प्रयोगो न भवति। किन्तु सम्बन्धित्वबोधकाः इन्-ईय-प्रभृतयः प्रत्ययाः प्रयुज्यन्ते। यथा स्वत्व-सम्बन्धो न वृत्तिनियामक इति मन्त्रिणि सत्यपि स्वत्वसम्बन्धे 'मन्त्री राजवान्' इति किं वा 'मन्त्रिणि राजा' इति न प्रयोगः किन्तु 'राजकीयो मन्त्री' इति प्रयोगः।

यहाँ हमे दो मुद्दों पर विचार करना है। १. हमेशा की तरह हमारे लेखक ने वृत्तिनियामक सम्बन्ध तथा वृत्त्यनियामक सम्बन्ध के बीच जो अन्तर है उसे शाब्दिक स्तर पर ही समझने के लिए एक निकष देना चाहा (द्र.ग्रन्थ १६)। इसके बारे में पूरी सविस्तर चर्चा तो उल्लिखित ग्रन्थाङ्क में हमने की है इसलिए जिस मुद्दे पर हमे विचार करना है उसीका उल्लेख यहाँ करते हैं— यह मुद्दा है शाब्दिक

स्तर पर वृत्त्यनियामक सम्बन्ध को पहचानने के निकष का। हमारे लेखक कहते हैं, जैसा कि हमने देखा है, कि इस सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए 'मतुप्-प्रत्यय' का प्रयोग नहीं होता जब कि हमारे पास 'धनवान् चैत्रः' जैसे वाक्य हैं। अर्थात् इस सन्दर्भ में 'मतुप् प्रत्यय' के प्रयोग वाले वाक्य सम्भव हैं। यहाँ चैत्र और धन के बीच आधार-आधेय-भाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। इन दोनों में अर्थात् 'धन' और 'चैत्र' में 'स्व-स्वामि-भाव' संबंध है। 'धनवान् चैत्रः' इस वाक्य का शाब्दबोध होता है— धननिष्ठस्वत्वनिरूपकः चैत्रः। इसलिए यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस विषय में हमारे लेखक का बताया हुआ सामान्य नियम सामान्यतया लागू होता है लेकिन वह इतना कड़ा नहीं है।

२) दूसरा मुद्दा है 'मन्त्री राजवान्' इस वाक्य के बारे में। इसकी चर्चा विस्तार से की गई है ग्रंथ १६ के ऊपर हमने लिखी हुई टिप्पणी में। अतः यहाँ उसकी चर्चा नहीं करते हैं।

३) और एक मुद्दा है हमारे लेखक द्वारा किए गए जाति के लक्षण का। उन्होंने जाति का लक्षण कुछ इस प्रकार किया है— येन परस्परं विभिन्नरूपाणामपि एकजातीय-द्रव्याणामेक-श्रेण्यामन्तर्भावो भवति, स धर्मो जातिः। यह पढ़ते ही एक बात समझ में आती है कि, 'जाति' के लक्षण में 'जाति' संज्ञा का प्रयोग नहीं होना चाहिए था। उसके स्थान पर 'प्रकार' का प्रयोग ज्यादा उचित लगता है। (द्र. ग्रन्थाङ्क २)

४) 'सप्रतियोगिक'पदार्थों की चर्चा करते समय हमारे लेखक ने दो सप्रतियोगिक पदार्थों का निर्देश किया है— 'सम्बन्ध' और 'अभाव' का। एक बात यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'सम्बन्ध' और 'अभाव' के साथ 'सादृश्य' को भी नव्यन्याय दर्शन में 'सप्रतियोगिक' पदार्थ माना गया है। (द्र.ग्रन्थाङ्क २५)

५) हमारे लेखक ने एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दे की चर्चा की है। वह है 'पर्याप्ति सम्बन्ध'। 'यह (कोई भी एक वस्तु जो दूसरी के साथ है) 'दो' नहीं है पर इसमें 'द्वित्व' है' यह एक प्रामाणिक वाक्य है। इसीलिए इसे ठीक तरह से समझना चाहिए। हमारे लेखक ने इस संदिग्ध से लगने वाले वाक्य का यथार्थ निरूपण किया है। वह कुछ इस प्रकार है— किन्हीं दो वस्तुओं में 'द्वित्व संख्या' तब रहती है जब वह

(द्वित्व संख्या) पहले दोनों वस्तुओं में से हर एक वस्तु में रहती हो। सीधी तरह इसे इस प्रकार समझा जा सकता है— जब हम दो वस्तुओं की गिनती करते हैं तब 'यह दो हैं' यह ज्ञान होता है क्योंकि इन दोनों वस्तुओं में 'द्वित्वसंख्या' उपस्थित है। अब दोनों में उपस्थित होने के लिए उसे दोनों में से हर एक में पहले रहना होगा। इस वस्तुस्थिति को समझना और भी आसान होगा अगर 'द्वित्वसंख्या' एक वस्तु में और दो वस्तुओं में पृथक् पृथक् सम्बन्ध से रहे। हमारे लेखक कहते हैं— 'द्वित्वसंख्या' दो वस्तुओं में से एक-एक में 'समवाय' संबंध से रहती है (क्योंकि 'संख्या' 'गुण' है) तथा यह दोनों वस्तुओं में एक साथ एक ही समय 'पर्याप्ति' संबंध से रहती है।

कालिपद तर्काचार्य ने इस पर टिप्पणी करते हुए हमारा ध्यान जगदीश की ओर आकर्षित किया है। जगदीश का मानना है कि, 'द्वित्वसंख्या' दो वस्तुओं में से एक-एक वस्तु में तथा दोनों वस्तुओं में एक साथ एक समय केवल एक ही सम्बन्ध से रहती है और वह संबंध है— पर्याप्ति। इस मत के पीछे उनका तर्क यह है कि यदि कोई वस्तु किसी दूसरी अकेली वस्तु में एक संबंध से नहीं रहती है तो वह उस संबंध से एक से ज़्यादा वस्तुओं में एक साथ एक समय नहीं रह सकती। (द्रष्टव्य : सुप्रभा टीका, नव्यन्यायभाषाप्रदीप पृ.१९)

इस चर्चा से यह समझना कठिन नहीं है कि, इन दोनों मतों के पीछे अलग-अलग युक्तियाँ हैं। और यह युक्तिवाद अलग अलग परिस्थितियों में किए गए हैं। (इस विषय में अधिक जानकारी के लिए रघुनाथ शिरोमणि की अवच्छेदकत्व-निरुक्ति-दीधिति के ऊपर जागदीशी टीका देखें। (द्रष्टव्य : मास्टर मणिमाला मणि क्र.२००, वाराणसी, १९४८, पृष्ठाङ्क ३८-४४))

हमारे लेखक ने पहले ही स्पष्ट किया है कि उन्होंने नव्यन्याय का पारंपरिक तरीका छोड़ दिया है। यह समझना कठिन नहीं है कि उन्होंने 'पर्याप्ति' संबंध को क्यों मानना पडता है इसके विषय में जो तर्क दिया है वह युक्तियुक्त और सरल है।

अब इन कुछ मुद्दों को देखते हुए यदि हम इस ग्रंथ में रह गई त्रुटियों पर ध्यान दें तो हम कह सकते हैं कि ये सारी त्रुटियाँ समय का या कभी सामर्थ्य का अभाव होने के कारण से हैं। वस्तुतः यह सारी मनुष्य की मर्यादाएँ हैं क्योंकि किसी भी

मानवी कृति के बारे में हम कह सकते हैं कि थोड़ा और समय होता तो यह कृति और भी अच्छी होती। लेकिन सच बात तो यह है कि, वह 'थोड़ा और समय' मानव को कभी नहीं मिलता है और इस तरह भगवान की बनाई इस महान (परन्तु सीमाबद्ध) कृति की ही यह सारी अपरिहार्य मर्यादाएँ हैं। तो क्या करें? इस सत्य को जानते हुए मनुष्य को यह स्वतंत्रता है कि किसी भी मानवी कृति के दोषों के अतिरिक्त उसके गुणों पर दृष्टिक्षेप करे, उसकी अच्छाइयों के विषय में विचार करे। हमारे नव्यन्यायभाषाप्रदीप को देखें तो हम कह सकते हैं कि यद्यपि छोटी है, संक्षिप्त है, यह अपनी तरह की केवल एक ही पुस्तक है। यह सरल, सहज समझ में आने वाली और इसके वाचक के मन से नव्य-न्याय का समूचा भय मिटा देने वाली पुस्तक है।

हमारे लेखक महेशचन्द्र न्यायरत्न हैं उन्नीसवी सदी के। वह न्याय के प्रकाण्ड पण्डित थे यह तो उनकी कृति से ही स्पष्ट है। उनके विषय में और जानकारी कलकत्ता संस्कृत कालेज के पूर्वोक्त प्रकाशन से मिल सकती है (द्रष्टव्य : पृ ९५-९८)।

उपरोक्त प्रकाशन में कालिपद तर्काचार्य द्वारा एक 'परिशिष्ट' जोड़ा गया है। इस परिशिष्ट में कालिपद तर्काचार्य ने कुछ ऐसे मुद्दों का विचार किया है जो कि इस विषय से सम्बद्ध हैं और हमारे लेखक ने उनका निर्देश नहीं किया है। वे मुद्दे हैं

१) 'लक्षण' का लक्षण

२) हेत्वाभास

३) पाँच प्रकार के हेतुदोष

४) प्रतिबन्धक

५) हेतु

६) कारण

७) कार्य

८) कारण के दो प्रकार

९) कारण के तीन प्रकार

१०) 'अन्यतर' शब्द का अर्थ

हम समझ सकतें हैं कि, यद्यपि कालिपद तर्काचार्य ने इस पुस्तक में कुछ मुद्दे जोड़े हैं तथापि हम इस पुस्तक को सही मायने में 'परिपूर्ण' नहीं कह सकते। दर असल किसी भी पुस्तक को सही मायने में 'परिपूर्ण' नहीं कहा जा सकता। शायद किसी पुस्तक लिखने का यह उद्देश्य भी नहीं होता।

हमारे लेखक की लिखी नव्यन्यायभाषाप्रदीप का प्रयोजन और प्रस्तुत लेखिका के इस हिन्दी अनुवाद का प्रयोजन एक ही है। वह है : न्यायशास्त्र के अध्ययन का आरंभ करने वालों की न्यायशास्त्र को समझने में सहायता करना। यदि पाठकों को इस पुस्तक से कुछ लाभ होता है तो दोनों पुस्तकों का प्रयोजन सफल हो जाएगा।

— **अनुवादक**

प्रस्तुत ग्रंथ की रूपरेखा

कोलकाता के संस्कृत कॉलेज के प्रकाशन में नव्यन्यायभाषाप्रदीप का ग्रंथ, जो एक पुस्तक के रूप में आता है उसे यहाँ ग्रन्थ १, ग्रन्थ २ इस प्रकार अंक देकर कुल ५३ इकाइयों में बाँटा गया है। इस तरह विभाजन करते समय यह ध्यान रखा गया है कि, एक इकाई में एक पूरा मुद्दा आ जाए। अगर एक मुद्दा बहुत विस्तृत हो तो उसका और भी विभाजन किया गया है। यह करते समय भी ग्रंथ के अर्थ की हानि न हो इसका ध्यान रखा गया है।

इस विभाजन के दो लाभ हैं— एक तो नव्यन्याय के अध्ययन का आरंभ करने वाले अध्येताओं को ग्रंथ समझने में सुविधा होगी और किसी के लिए भी ग्रंथ का संदर्भ देने में सरलता होगी।

ग्रंथ की इकाई के बाद उसका हिन्दी अनुवाद दिया गया है और उसके बाद उस इकाई को अच्छी तरह समझने के लिए सरल भाषा में टिप्पणी दी गई है। इस टिप्पणी में उस इकाई में आए हुए मुद्दे को दृग्गोचर करने के लिए रेखाकृति या रेखाकृतियाँ दी गई हैं। इन रेखाकृतियों को पढ़ने का तरीका भी इस रूपरेखा के बाद बताया गया है, जिसमें इन रेखाकृतियों में प्रयुक्त चिह्नों के अर्थ बताए गए हैं।

पुस्तक के अंत में पारिभाषिक संज्ञाओं की अर्थ-सूचि तथा ग्रंथ-सूचि दी गई है। शब्द-सूचि में अंग्रेजी में भी अर्थ दिया हुआ है जिससे समझने में और सरलता होगी।

न्याय-शास्त्र के ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद करना इतना सरल नहीं है इसका भान अनुवादक को है। फिर भी हिन्दी भाषियों के लिए यह पुस्तक उपयोगि हो सकती है।

रेखाकृतियों के बारे में....

अनुवाद के बाद लिखी हुई टिप्पणी में कई रेखाकृतियाँ बनायी हैं जिससे मुद्दा आँखों के सामने मूर्तरूप में आ जाए। लेकिन इन रेखाकृतियों को पढ़ने की पद्धती ज्ञात होनी चाहिए। इसलिए आइए हम इन रेखाकृतियों में प्रयुक्त चिह्न और उनके अर्थों को ठीक से जान लेते हैं।

१) 'क्ष' 'य' में रहता है या 'य' के ऊपर आश्रित है।

बीच की रेखा का अर्थ है 'क्ष' और 'य' के बीच का सम्बन्ध।

२) 'क्ष' और 'य' परस्पर का वर्णन करते हैं।

अर्थात् 'क्ष' से 'य' वर्णित है तथा 'य' से 'क्ष'।

३) 'क्ष' 'य' को अवच्छिन्न (सीमित) करता है अर्थात् 'क्ष' अवच्छेदक (सीमित करने वाला) है और 'य' अवच्छिन्न (सीमित) है।
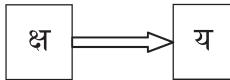
४) 'क्ष' और 'य' सम्बद्ध हैं।
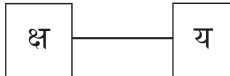
५.१) 'क्ष' 'य' को उत्पन्न करता है। अर्थात् 'क्ष' कारण है तथा 'य' कार्य है।

५.२) 'क्ष' 'य' से सम्बद्ध है। अर्थात् 'क्ष' प्रतियोगि है और 'य' अनुयोगि।

६) 'क्ष' चारों आधारों में एक साथ एक समय पर रहता है।
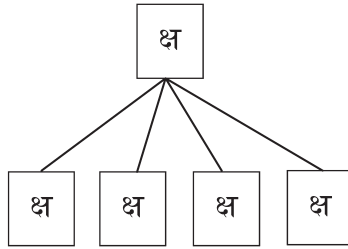
७) 'क्ष' अभाव का प्रतियोगि है, अर्थात् यह 'क्ष' का अभाव है।
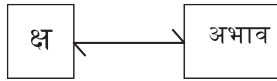
८) 'क्ष' 'क' का 'समवेत धर्म' है और 'य' 'क' का 'आगन्तुक धर्म' है जो 'क्ष' द्वारा अवच्छिन्न (सीमित) है।
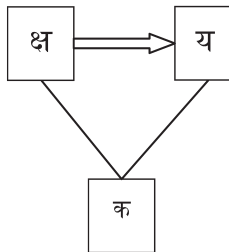
९) ‘क्ष’ ‘क’ का ‘समवेत धर्म’ है तथा ‘य’ ‘क’ का ‘आगन्तुक धर्म’ है। ‘स’ वह सम्बन्ध है जिससे ‘क’ ‘ख’ में रहता है। ‘य’ वह आगन्तुक धर्म है जो ‘क’ में किसी विशेष संदर्भ में ही रहता है। इस ‘य’ को ‘क्ष’ (जो ‘क’ का ‘समवेत धर्म’ है) और ‘स’ (जिस संबंध से ‘क’ ‘ख’ में रहता है) दोनों ‘क’ में सीमित करते हैं।
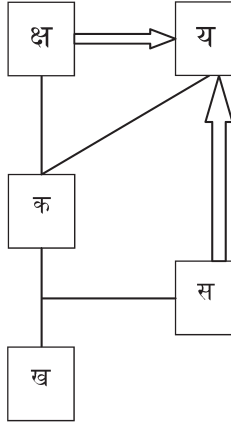
यह कुछ मूलभूत रचनाएँ हैं जो हमारी रेखाकृतियों में आती हैं। इनको समझकर ध्यान में रखने से रेखाकृतियों को पढ़ना सरल होगा।

कभी कभी अभाव को ‘-’ इस चिह्न से दिखाया गया है। उदाहरण के लिए ‘-घट’ से घटाभाव दर्शाया गया है।

ग्रन्थ १

धर्मः ध्रियते तिष्ठति वर्तते यः स धर्मः। आकाशादिकं विना सर्वे एव पदार्थाः यत्र कुत्रचिदपि वर्तन्त इति सर्व एव धर्मा इत्युच्यन्ते। यत्र यः वर्तते स तस्य धर्मः।

हिन्दी अनुवाद

जो 'धरा जाता' है, 'रहता है', होता है उसे 'धर्म' कहते हैं। आकाश इत्यादि को छोडकर सभी वस्तुएँ कहीं न कहीं रहती हैं इसलिए उन्हें 'धर्म' कहते हैं। जो जहाँ रहता है वह उसका धर्म है। जैसे जाति, गुण और कर्म द्रव्य में रहते हैं अतः ये तीनों द्रव्य के धर्म कहलाते हैं। सूत्र (धागें) रूप अवयवों में वस्त्ररूप अवयवि रहता है इसलिए 'वस्त्र' 'द्रव्य' होकर भी 'सूत्रों' का धर्म है। अगर 'पात्र' में 'जल' है तो 'जल' पात्र का 'धर्म' है। आकाश इत्यादि कहीं भी नहीं रहतें अतः आकाश किसी का 'धर्म' नहीं है। इसीलिए आकाश को 'अवृत्ति (कहीं न रहने वाली) वस्तु' कहा जाता है।

टिप्पणी

नव्यन्याय की भाषा पर अगर कोई प्रभुत्व पाना चाहे तो उसे नव्यन्याय की पद्धति का ज्ञान होना चाहिए। नव्यन्याय का इस विश्व को देखने का दृष्टिकोण, नव्यन्याय में स्वीकृत मौलिक पदार्थ इन सब का भान भी आवश्यक है। इसीलिए हमारे लेखक ने नव्यन्याय की मौलिक संकल्पनाओं की चर्चा से ही अपनी पुस्तक का आरंभ किया है। नव्यनैयायिक समूचे 'विश्व' को एक 'पदार्थ' अर्थात् 'पद के अर्थ' के रूप में देखता है। जो भी वस्तु 'यथार्थज्ञान' का विषय हो सकती हो वह वस्तु किसी न किसी पद का अर्थ होती है। इसीलिए काल्पनिक वस्तु किसी शब्द का अर्थ नहीं होती। इस तरह विश्व में किसी वस्तु का अस्तित्व मानने के लिए दो परीक्षाएँ होती हैं।

१) वह वस्तु जानने योग्य हो और

२) वह वस्तु नाम देने योग्य हो।

यदि ये दोनों शर्तें पूरी होती हों तो वह वस्तु असंशय सत्य है, वास्तव है,

यथार्थ है। इसीलिए, वस्तु, जो कि किसी शब्द का अर्थ है, उसका लक्षण है— ज्ञेयत्वमभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्।

इस तरह भाषा का प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का द्योतक होता है और विश्व की हर वस्तु का एक नाम होता है। और एक बात की ओर हमें ध्यान देना चाहिए कि हर वस्तु का निर्देश केवल उसीके नाम से किया जाता है। दूसरी किसी वस्तु के नाम से नहीं। इसी बात को कहने के लिए नव्य-नैयायिक एक सुन्दर पदावली का प्रयोग करते हैं— उनके अनुसार किसी भी शब्द का प्रयोग तभी किया जाता है जब उसका प्रयोग करने का कारण उपस्थित हो। इस शब्दप्रयोग के कारण को नैयायिकों ने 'शब्दप्रवृत्तिनिमित्त' कहा है। यह 'शब्दप्रवृत्तिनिमित्त' क्या होता है? यह उस वस्तु का 'समवेत धर्म' होता है जो उस शब्द का वाच्य है। यह 'समवेत-धर्म' उस शब्द के, उस वस्तु के निर्देश के लिए किये जाने वाले प्रयोग में कारण का काम करता है। इसलिए इसको उस शब्द का 'प्रवृत्ति-निमित्त' कहा जाता है। इसका अर्थ है कि जब कोई वक्ता किसी वस्तु का निर्देश उसके नाम से करता है तब उसने (वक्ता ने) उस वस्तु में रहने वाले समवेतधर्म को जान लिया होता है। एक उदाहरण लेने से बात और स्पष्ट होगी— जब कोई व्यक्ति 'घट' शब्द का उच्चारण करता है तब उसने जिस वस्तु के विषय में वह बोल रहा है उस वस्तु में 'घटत्व' का भान कर लिया है। इसको और अच्छी तरह से समझने के लिए हम इस वस्तुस्थिति पर ध्यान दें कि, कोई भी वक्ता कभी भी 'पट' या 'दीवार' या 'संगणक' या 'टेबल' को दर्शाने के लिए 'घट' शब्द का प्रयोग नहीं करता। इसीलिए नव्यनैयायिकों का यह युक्तिवाद है कि, पहले वस्तु के 'समवेतधर्म' का ज्ञान होता है और तत्पश्चात् उस समवेतधर्म द्वारा उसको धारण करने वाली वस्तु को जान लिया जाता है।

इसी बात को संक्षेप में कहें तो हमारे दर्शन के अनुसार (इस पुस्तक में हम 'नव्यन्याय दर्शन' को 'हमारा दर्शन' कहेंगे) वस्तुस्थिति को एक विशिष्ट तरीके से और एक विशिष्ट रूप में जाना जाता है। वह विशिष्ट रचना हम रेखाकृति में कुछ इस प्रकार समझ सकते हैं—

इस रेखाकृति में दर्शाया गया 'क्ष' जो भी हो वह बीचवाली रेखा से दिखाए गए संबंध से 'य' में रहने वाला धर्म है। इस प्रकार, 'क्ष' एक 'धर्म' है, 'य' एक 'धर्मी' है और उन दोनों के बीच की 'सीधी रेखा' उन दोनों के बीच का 'संबंध' है। इस संबंध के कारण ही 'क्ष' 'य' का धर्म बना हुआ है। इसीलिए, 'क्ष' 'य' के ऊपर है, 'क्ष' 'य' में रहता है, 'क्ष' 'य' पर रहता है इत्यादि सारे वाक्य केवल एक ही वस्तुस्थिति को दर्शातें हैं और वह है—

इस प्रकार की सारी वस्तुस्थितियों में 'क्ष' कुछ भी हो उसे 'य' का धर्म ही कहा जाता है। इसी मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए हमारे लेखक ने कुछ उदाहरण लिये हैं। पहले लेखक कहते हैं कि जाति, गुण और कर्म ये तीनों द्रव्य में रहतें हैं। इसे समझने के लिए हम नीचे दिखाई गई रेखाकृतियों का आधार ले सकतें हैं —
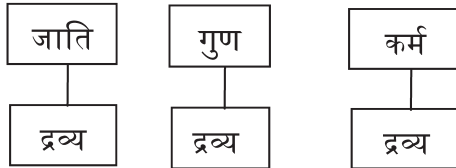
तथा—
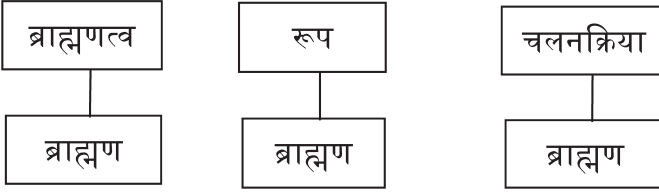
यह समझना सरल है कि द्रव्य में जाति, गुण और कर्म ये धर्म रहतें हैं क्योंकि यह सारे अमूर्त हैं और उन्हें रहने के लिए किसी मूर्त द्रव्य की आवश्यकता होती है। वे द्रव्य के आधार के बिना रह ही नहीं सकतें। परन्तु हमारे दर्शन में 'धर्म' की संकल्पना इतनी संकुचित नहीं है। हम कह सकतें हैं कि 'धर्म' की संकल्पना इस दर्शन में बड़ी व्यापक है। यही बात हमें, ''क्ष' जो कुछ भी हो,

इस रेखाकृति में दर्शाए गए 'य' का धर्म है' इस विधान को समझने के लिए ध्यान में रखनी होगी।

'धर्म' संकल्पना की व्यापकता को समझाने के लिए हमारे लेखक ने और दो उदाहरण लिये हैं— एक है वस्त्र का और दूसरा है जल का। इनके विषय में किये गए दो विधान, 'धागों में वस्त्र रहता है' (यहाँ धागे अवयव हैं और वस्त्र है अवयवि) तथा 'पात्र में जल है' जिन वस्तुस्थितियों के द्योतक हैं वे हैं—
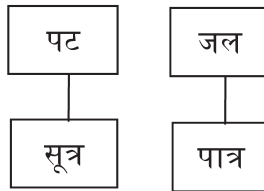
इस संदर्भ में वस्तुस्थिति की जो मौलिक रेखाकृति हमने बनाई, वो थी—

इसके विषय में हमने विधान किया था— ''क्ष' 'य' में रहता है'। इसमें हम 'क्ष' के स्थान पर (१) वस्त्र और (२) जल रख सकतें हैं तथा 'य' के स्थान पर (१) धागे और (२) पात्र रख सकतें हैं। हमने देखा है कि, 'क्ष' धर्म है और 'य' धर्मी अर्थात् उस (क्ष) धर्म का आधार है। अब हम यदि इस ज्ञान को प्रस्तुत संदर्भ में लगाते हैं तो हम कह सकतें हैं कि 'वस्त्र' धागों का धर्म है जो (धागें) उसका (वस्त्र का) आधार हैं और दूसरे उदाहरण में 'जल' पात्र का धर्म है जो (पात्र) उसका (जल का) आधार है।

इससे पता चलता है कि, 'वस्त्र' या 'जल' जैसे द्रव्य भी जब उनके आधार में रहतें हैं तो 'धर्म' बन जातें हैं। यहाँ हम 'पत्र' 'मेज' पर है, 'पुस्तक' 'अलमारी' में है जैसे कई और उदाहरण जोड़ सकते हैं जिससे यह पुस्तक केवल बड़ी होगी। इससे हमारे ज्ञान में कोई बढ़त नहीं होगी। इसीलिए यहाँ और उदाहरण देने से बचतें हैं और आगे बढ़तें हैं। इन उदाहरणों के सहारे हमने जो बात समझी है वह यह है कि, 'धर्म' की संकल्पना किसी अमूर्त वस्तु तक ही सीमित नहीं है बल्कि 'धर्म' का अर्थ है वह कोई भी वस्तु जो किसी आधार पर आश्रित है। 'धर्म' और धर्मी को संस्कृत में 'आधेय' और 'आधार' भी कहतें हैं। इसलिए वस्तुस्थिति की मौलिक रचना को याद करने के लिए आइए हम एक बार वह रेखाकृतियाँ दोहरातें हैं—
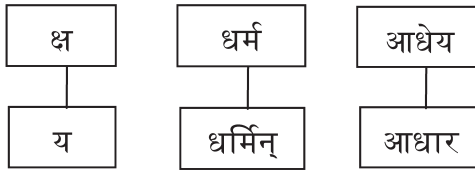
इन रेखाकृतियों को अच्छी तरह ध्यान में रखकर चलिए अब आगे बढ़ते हैं।

अबतक हमने जो विचार किया उससे हमारी यह धारणा हुई है कि विश्व की कोई भी वस्तु यदि किसी आधार पर आश्रित हो तो वह 'धर्म' (उस 'आधार' का 'धर्म') कहलाती है, क्योंकि जो सब से अधिक 'स्वतंत्र' है वह 'द्रव्य' भी किसी ('धर्मी') का 'धर्म' बन जाता है। यह धारणा सही है। परन्तु हमारे दर्शन में कुछ ऐसे द्रव्य हैं जो कि सर्वव्यापि हैं। वे सर्वत्र रहतें हैं। अगर हम 'आकाश' का उदाहरण लें तो यह बात अच्छी तरह समझ में आती है कि आकाश सर्वत्र है। अगर किसीसे पूछा जाए कि आकाश कहाँ है? तो इसके दो उत्तर हो सकतें हैं— (१) सब जगह या सर्वत्र और (२) किसी भी एक विशेष जगह पर नहीं। अगर विचार किया जाए तो समझ में आता है कि यह दोनों उत्तर केवल शाब्दिक सतह पर ही भिन्न हैं। उनके अर्थ में कोई भेद नहीं है। अर्थात् कोई वस्तु सर्वव्यापि है का मतलब यही है कि वह वस्तु किसी विशेष आधार पर नहीं रहती। इसका मतलब है कि अगर हमारे लेखक ने दिया हुआ 'आकाश' का ही उदाहरण हम लेतें हैं तो हम कह सकतें हैं कि 'आकाश' को हम किसी एक जगह पर नहीं दिखा सकतें। आकाश 'कहीं' पर नहीं रहता। इसीलिए उसे अनाश्रित (अ-वृत्ति) कहा जाता है। अर्थात् आकाश में वह आधेयता नहीं है जो किसी एक आधार में सीमित है। 'आकाश' को किसी विशेष 'धर्मी' का 'धर्म' नहीं कहा जा सकता।

इसी कारण हमारे लेखक कहतें हैं कि 'आकाश' इत्यादि कहीं पर भी (अर्थात् किसी विशेष आधार पर) नहीं रहते इसलिए वे किसी (धर्मी) के 'धर्म' नहीं हैं। इसीलिए 'आकाश' को 'अवृत्ति-पदार्थ' कहा जाता है। यहाँ पर अभी भी हमें एक प्रश्न का उत्तर नहीं मिला और वह प्रश्न है 'आकाश इत्यादि' के विषय में। 'इत्यादि' में किन किन वस्तुओं का समावेश है? इसका उत्तर है— 'इत्यादि' में सारे सर्वव्यापि 'द्रव्य' और सारे 'अणु द्रव्य' समाविष्ट है।

ग्रन्थ २

धर्मश्च प्रथमतः द्विविधः जातिरुपाधिश्चेति। येन परस्परं विभिन्नरूपाणामपि एकजातीयद्रव्याणामेकश्रेण्यामन्तर्भावो भवति, स धर्मो जातिः। यथा विभिन्नदेशीया मनुष्या विभिन्नाकाररूपस्वभावा अपि एकया मनुष्यत्वजात्या एकश्रेण्यामन्तर्भाविताः। जातिश्च सामान्यं नाम कणादोक्तश्चतुर्थः पदार्थः।

हिन्दी अनुवाद

मूलतः धर्म दो प्रकार का होता है— 'जाति' और 'उपाधि'। जिससे (अर्थात् जिस धर्म के आधार पर) एक दूसरे से अलग दिखने वाले द्रव्य भी एक ही वर्ग में समाविष्ट होते हैं वह धर्म है 'जाति'। जैसे भिन्न भिन्न स्थानों पर रहने वाले भिन्न भिन्न आकार के विभिन्न रूप और स्वभाव के (सारे) मनुष्य एक 'मनुष्यत्व' जाति से एक ही वर्ग में अन्तर्भूत होते हैं। कणाद ने बताया हुआ 'सामान्य' नामक चौथा पदार्थ ही 'जाति' है।

टिप्पणी

वस्तुओं की मौलिक रचना अर्थात् धर्म-धर्मी-भाव को सामान्यतः जान लेने के उपरान्त धर्म, धर्मी तथा भाव अर्थात् उन दोनों के बीच के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझना अर्थात् इन तीनों का स्वरूप ठीक से समझना आवश्यक है। इसलिए लेखक ने इनमें से पहली संकल्पना को प्रथमतः लिया है। यह संकल्पना है— धर्म।

लेखक कहते हैं कि धर्म दो प्रकार का होता है— जाति और उपाधि। यह विभाजन मौलिक है। क्योंकि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कोई भी 'वस्तु' 'धर्म' हो सकती है। यहाँ तक कि कोई एक 'द्रव्य' भी दूसरे द्रव्य का 'धर्म' हो सकता है। लेकिन इस मुद्दे पर बाद में विचार होगा। इस संदर्भ में सबसे अहम् सवाल यह है कि जब कोई व्यक्ति 'धर्म' शब्द को सुनता है तो उसे क्या समझ में आता है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए लेखक कहते हैं कि 'धर्म' मूलतः दो प्रकार का है— (१) जाति और (२) उपाधि। इन दोनों में से जाति अथवा सामान्य किसी भी वस्तु का वह समवेत गुणधर्म है जिसके कारण वह वस्तु उस 'वर्ग' की कहलाती है। जैसे उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि, 'मनुष्यत्व' सभी मनुष्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला वह विशेष धर्म है जिसके कारण सभी मनुष्य 'मनुष्यत्व' इस वर्ग के कहलातें हैं। सभी मनुष्य दिखने में एक जैसे नहीं होते। जहाँ तक उनके आकार, रंग तथा स्वभाव का संबंध है वह भिन्न भिन्न है। वह अलग अलग प्रदेशों में रहते हैं। फिर भी सारे 'मनुष्य' ही कहलाते हैं क्योंकि उन सब में 'मनुष्यत्व' धर्म है। वैशेषिक-सूत्रकर्ता कणाद महर्षि ने 'जाति' या 'सामान्य' को एक स्वतंत्र पदार्थ माना है। उन्होंने पदार्थों का 'उद्देश' करते हुए कहा है— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य,

विशेष और समवाय ये पदार्थ हैं। इनमें चौथा पदार्थ सामान्य है। यही जाति है। जाति और सामान्य एक ही है। ये दो एक ही वस्तु के दो नाम हैं। इन दोनों में से किसी भी नाम का प्रयोग किया जा सकता है। इसीलिए हमारे लेखक ने कहा— 'जाति' कणाद द्वारा बताया गया चौथा पदार्थ अर्थात् 'सामान्य' है।

जहाँ तक 'उपाधि' का सवाल है, यह कहना सही है कि यह धर्म वस्तु में 'जाति' की तरह समवाय संबंध से नहीं रहता। यह वस्तु में 'समवेत' न होने के कारण वस्तु के लिए कुछ बाह्य सा होता है। उदाहरण के लिए 'आकाशत्व' लेते हैं। 'आकाशत्व' 'जाति' नहीं अपितु 'उपाधि' है। ऐसा क्यों? क्योंकि 'आकाशत्व' को समझने के लिए हमें 'शब्द' का आधार लेना पड़ता है। 'आकाशत्व' को हम समझते हैं 'शब्द के आधार का धर्म' इस स्वरूप में। इसका अर्थ, 'उपाधि' को जानने के लिए हमें किसी बाहरी वस्तु का, किसी दूसरे पदार्थ का जैसे आधार लेना पडता है।

'धर्म' के मौलिक वर्गीकरण का अगर हम चित्र बनाना चाहें तो वह कुछ इस प्रकार बनेगा—
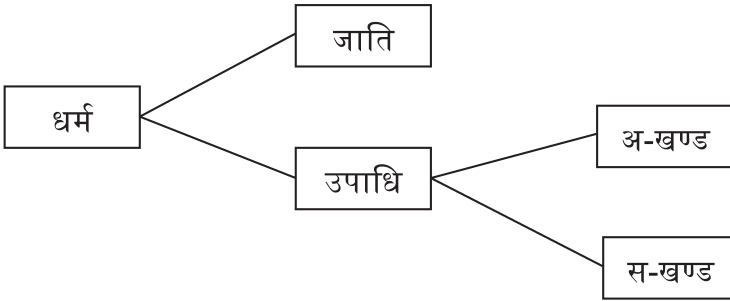
यहाँ पर एक और मुद्दे की ओर ध्यान देना चाहिए— हमारे लेखक ने 'जाति' का लक्षण किया है— 'येन परस्परं विभिन्नरूपाणामपि एकजातीयद्रव्याणामेकश्रे-ण्यामन्तर्भावो भवति, स धर्मो जातिः'। यहाँ पर 'जाति' के लक्षण में 'जाति' शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए था। इसको 'आत्माश्रय' दोष के नाम से जाना जाता है। लक्षण में 'जाति' शब्द का प्रयोग 'प्रकार' के अर्थ में किया गया है। इसलिए लगता है कि अगर हमारे लेखक 'एकजातीय...' की जगह 'एकप्रकारीय...' लिखते तो

और भी अच्छा होता। 'आत्माश्रय' दोष नहीं लगता। लेकिन उन्होंने 'जाति' शब्द का ही प्रयोग किया है जिसे 'प्रकार' अर्थ में समझना चाहिए जैसा कि अनुवाद करते समय हमने समझा है।

ग्रन्थ ३

उपाधिरपि पुनः सखण्डोपाधिरखण्डोपाधिश्चेति द्विविधः। खण्डेन (अंशेन) सह वर्तते इति सखण्डः। यश्च अंशतो विभक्तुं शक्यते स सखण्डोपाधिधर्म इति यावत्। यथा पशुत्वम्। तद्धि लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वम्। ततश्च तस्य लोमलाङ्गूलादयः अंशाः बहवो वर्तन्ते इति द्रव्यरूपं पशुत्वं धर्मः सखण्डोपाधिः। एवं रूपवानयमित्यत्र गुणात्मकं रूपं धर्मः। स च सखण्डोपाधिः। रूपत्वजात्याश्रयो हि रूपम्। ततश्च रूपस्य रूपत्वजातिः आश्रयश्चेति अंशद्वयमस्ति।

हिन्दी अनुवाद

उपाधि के भी दो प्रकार हैं— सखण्ड उपाधि और अखण्ड उपाधि। खण्ड अर्थात् अंश के साथ जो होता है उसे सखण्ड कहते हैं। जिसे खण्डों में अर्थात् अंशों में विभक्त किया जा सकता है वह धर्म सखण्ड-उपाधि है। जैसे पशुत्व। वह है रोम और पूँछ (इत्यादि)। मतलब 'पशुत्व' के रोम, पूँछ इत्यादि बहुत से अंश होने के कारण द्रव्यरूप पशुत्व एक सखण्ड-उपाधि धर्म है। वैसे ही 'रूपवान् अयम्' (अर्थात् यह अच्छे रूपवाला अर्थात् सुन्दर है) इस वाक्य में 'रूप' जो कि एक गुण है वह धर्म है। यह भी सखण्ड उपाधि है। क्योंकि 'रूप' जो है वह रूपत्व जाति का आश्रय है। इसका अर्थ यह है कि रूप के रूपत्व-जाति और (उसका) आश्रय ये दो अंश हैं।

टिप्पणी

जाति और उपाधि इन में दूसरे प्रकार का धर्म जो कि 'उपाधि' है जिसे हम असमवेत धर्म मानते हैं, उसके भी दो प्रकार किए गए हैं। ये हैं— सखण्ड और अखण्ड उपाधि। इसे समझाने के लिए हमारे लेखक ने उदाहरण लिया है— पशुत्व का। लेखक कहते हैं 'पशुत्व' जाति नहीं अपि तु उपाधि है। ऐसा क्यों? क्योंकि 'रोम

तथा पूँछवाला होना' उसका लक्षण किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि, 'रोम, पूँछ' जैसे कई अंशो में 'पशुत्व' को विभक्त किया जा सकता है। इसीलिए उसको 'सखण्ड उपाधि' माना गया है। इसी तरह, लेखक कहते हैं कि, 'रूप' भी एक सखण्ड धर्म है। अगर कोई कहे, 'यह आदमी 'रूपवान' है' तो 'रूप' यहाँ पर उपाधि है। 'रूप' क्या है? इसका उत्तर होगा 'रूपत्व जाति का आश्रय है रूप'। इसका अर्थ है कि 'रूप' के दो अङ्ग हैं— रूपत्व-जाति और उसका आश्रय।

यह बात याद करने के लिए नीचे दिये हुए चित्र सहायता कर सकतें हैं—
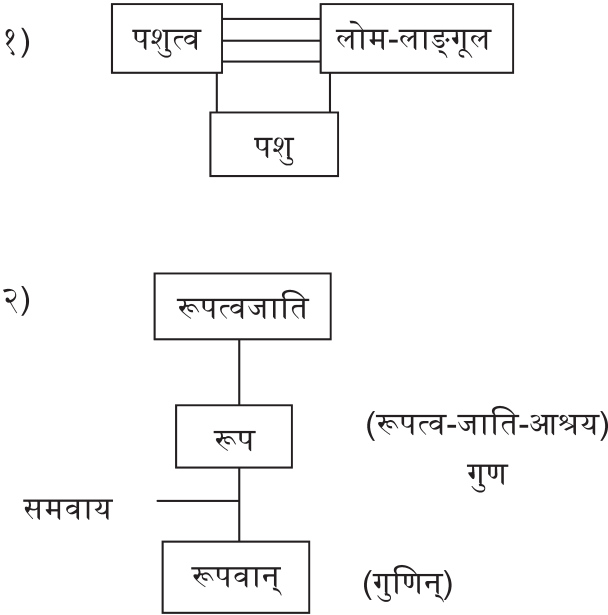
ग्रन्थ ४

यस्यांशविशेषो नास्ति मनुष्यत्वद्रव्यत्वादिजातिवत् यस्तु अंशतः विभक्तुं न शक्यते अंशरहितत्वमेव यस्य स्वरूपमङ्गीक्रियते सः अखण्डोपाधिः। यथा भावत्वम्। तद्धि अभावत्वविरोधी कश्चन धर्म इति। पशुत्वादिवद् भावत्वम् अंशतः विभक्तुं न शक्यते।

हिन्दी अनुवाद

जिसके कोई विशेष अंश नहीं होते जिसका मनुष्यत्व द्रव्यत्व इत्यादि के समान विभाग नहीं होता, 'विभाग के बिना होना' ही जिसका स्वरूप स्वीकार किया गया है वह (धर्म) अखण्ड उपाधि है। उदाहरणार्थ भावत्व। भावत्व अभाव का विरोधी कोई धर्म है। पशुत्व इत्यादि की तरह भावत्व का अंशों में विभाग संभव नहीं।

टिप्पणी

सखण्ड-उपाधि के बिलकुल विरुद्ध स्थिति है अखण्ड-उपाधि की। इसका अर्थ यह है कि, जिसका विभाजन नहीं हो सकता, या हम कह सकते हैं कि अपने विविध खण्डों के आधार पर हम जिसका लक्षण नहीं बता सकते वह है अखण्ड-उपाधि। उदाहरण के लिए 'भावत्व' देखते हैं। 'भावत्व क्या है'? इसका उत्तर है— जो 'अभावत्व' का विरोधी है। देखा जाए तो इससे हमें कुछ नयी जानकारी नहीं मिली।

ग्रन्थ ५

जातेरपि अंशविभागो नास्ति। किन्तु जातेः समवायसम्बन्धेन सत्त्वं नियतम्। अखण्डोपाधेस्तु न तथा। तस्य स्वरूपसम्बन्धेन सत्त्वमिति अनयोः पृथगुल्लेखः।

हिन्दी अनुवाद

जाति के भी कोई अंश नहीं होते। परन्तु जाति (अपने आश्रय में) हमेशा 'समवाय' सम्बन्ध से ही रहती है। अखण्ड उपाधि (के बारे में) ऐसा नहीं है। वह (अखण्ड उपाधि अपने आश्रय में) स्वरूप सम्बन्ध से रहती है इसलिए दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है।

टिप्पणी

यहाँ पर किसी दक्ष पाठक के मन में एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि, क्या

जाति के भी अंश होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है— नहीं जाति भी अ-खण्ड है। इसके कोई अंश नहीं होते। अगर ऐसा है तो एक और प्रश्न यहाँ खड़ा होता है कि 'अखण्ड उपाधि के कोई अंश नहीं होते' यह विशेष रूप से क्यों बताया गया? इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास, हमारे लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। वह कहते हैं कि जाति अपने आधार पर हमेशा ही 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है। किसी और सम्बन्ध से कभी नहीं रहती। लेकिन उपाधि का ऐसा नहीं है। वह (उपाधि) अपने आधार में स्वरूप सम्बन्ध से रहती है। इन दोनों में (जाति और उपाधि में) यही अंतर है और इसी कारण से दोनों का पृथक पृथक उल्लेख भी आवश्यक है। इस बात को हम चित्र द्वारा भी स्मरण कर सकते हैं—
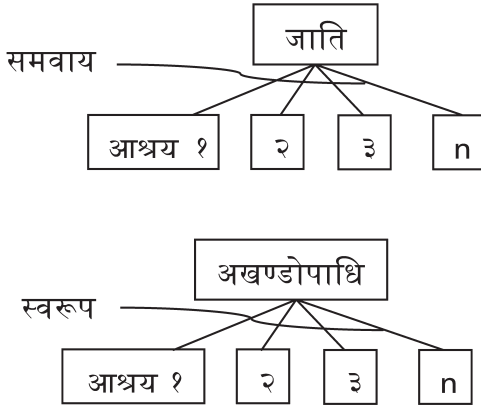
ग्रन्थ ६

जातेरखण्डोपाधेश्च प्रतीतावनुल्लेखे (शब्देनानुच्चारणे) निरवच्छिन्ना (तयोः विशेषणप्रतीतिरहिता) प्रतीतिः भवति। यथा 'पटो भाव' इति प्रतीतौ पटत्वं जातिः भावत्वम् अखण्डोपाधिश्च पटपदार्थभावपदार्थान्तर्भावेनैव प्रतीयेते न तु शब्देन ते उल्लिखिते इति न तयोः प्रतीतावत्र सविशेषणं भानं किन्तु पटत्वांशे भावत्वांशे च विशेषणभानरहितमेव निरवच्छिन्नं भानं जायते। यत्र तु तयोरुल्लेखः तत्र तयोः प्रतीतिरपि सावच्छिन्ना(विशेषण-

प्रतीति-सहिता) भवति। यथा 'अस्मिन् द्रव्ये भावत्वं पटत्वं चास्ति' इत्यत्र पटत्वं भावत्वं च स्पष्टत एव शब्देनोल्लिखितमिति तयोरत्र यथाक्रमं पटत्वत्वेन भावत्वत्वेन च सावच्छिन्ना प्रतीतिः। अत एव 'अनुल्लिख्य मानजात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थानां निरवच्छिन्नभानानभ्युपगम इति ग्रन्थकृद्भिः सिद्धान्तितम्।

हिन्दी अनुवाद

'जाति' तथा 'अखण्डोपाधि' का जब ज्ञान में उल्लेख नहीं होता (अर्थात् वाक्य में उनका उच्चारण नहीं होता) तब उनका ज्ञान अनवच्छिन्न (अर्थात् उनके विशेषण-ज्ञान के बिना ही) होता है। जैसे ''पट'(अर्थात् 'वस्त्र') एक भावपदार्थ है' इस ज्ञान में 'पटत्व' जाति और 'भावत्व' अखण्डोपाधि 'पट' और 'भाव' पदार्थ में ही अन्तर्भूत होकर प्रतीत होते हैं, वाक्य में उनका उल्लेख नहीं हुआ, इसलिए इस (शाब्द) ज्ञान में उनका ज्ञान विशेषणसहित नहीं अपि तु पटत्व और भावत्व अंश में विशेषणरहित, अर्थात् अनवच्छिन्न ज्ञान (ही) होता है। परन्तु जहाँ (वाक्य में) उनका उल्लेख होता है वहाँ उनका ज्ञान भी सावच्छिन्न (मतलब विशेषण के ज्ञान के सहित) होता है। जैसे 'इस द्रव्य में पटत्व और भावत्व हैं' इस वाक्य में पटत्व और भावत्व का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है अतः यहाँ पर उन दोनों का ज्ञान पटत्वत्व तथा भावत्वत्व रूप से सावच्छिन्न ही होता है। इसीलिए (इस दर्शन का) आकर ग्रन्थकर्ताओं द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त यह है कि, वाक्य में अनुल्लिखित जाति तथा अखण्डोपाधि को छोड़ सभी पदार्थों का अनवच्छिन्न या निरवच्छिन्न ज्ञान स्वीकार नहीं। (वाक्य में अनुल्लिखित जाति तथा अखण्डोपाधि को छोड़ किसी भी पदार्थ का विशेषणरहित ज्ञान स्वीकार नहीं है।)

टिप्पणी

'जाति तथा अखण्डोपाधि जब शब्द से उल्लिखित नहीं होते तब उनका ज्ञान विशेषण-ज्ञान के बिना होता है।' इसे अच्छी तरह समझने के लिए आइए हम शुरू से प्रारंभ करते हैं— हर ज्ञान जो शब्द में अभिव्यक्त है वह 'विशिष्ट ज्ञान' है और विशिष्ट-ज्ञान का आधार है विशेषण-ज्ञान। यह समझने के लिए एक उदाहरण लेते हैं— उदाहरण है नीले फूल का। अगर किसी व्यक्ति को 'नील' का अर्थ पता

नहीं है (वह नहीं जानता 'नीला' क्या है) तो उसे 'नीले फूल' का ज्ञान नहीं होगा। अब दूसरा उदाहरण है 'घट' का। 'घट' ज्ञान भी विशिष्टज्ञान है और इसलिए 'घट' ज्ञान से पहले 'घटत्व' का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ सजग पाठक के मन में एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या 'घटत्व' के ज्ञान के लिए 'घटत्वत्व' का ज्ञान भी आवश्यक है? इसी प्रश्न के उत्तर में हमे इस टिप्पणी के सबसे पहले वाक्य की ओर ध्यान देना होगा— जाति तथा अखण्डोपाधि जब शब्द से उल्लिखित नहीं होते तब उनका ज्ञान विशेषण-ज्ञान के बिना होता है। इसका अर्थ है— हर वह ज्ञान जो शब्दों में अभिव्यक्त है वह विशिष्ट-ज्ञान है जो कि उसके विशेषण-ज्ञान पर आधारित है। इसका सीधा अर्थ यह है कि जो ज्ञान शब्दों में व्यक्त नहीं होता वह विशिष्ट-ज्ञान नहीं है। अर्थात् अपने विशेषण-ज्ञान पर निर्भर नहीं होता है। उपरोक्त 'घट' ज्ञान के उदाहरण में 'घटत्व' का शब्दों में उल्लेख नहीं हुआ है। शब्द में उल्लेख हुआ है 'घट' का। इसीलिए 'घट' ज्ञान विशिष्ट-ज्ञान है और उसका विशेषण जो कि 'घटत्व' है, वह चूँकि शब्द में उल्लिखित नहीं है, 'घट'-ज्ञान में निरवच्छिन्न रूप से मतलब अपने विशेषण-ज्ञान के बिना ही भासमान होता है। और इस प्रकार ऊपर उठाए गए प्रश्न का उत्तर है— 'घट'-ज्ञान में भासमान 'घटत्व' के ज्ञान के लिए 'घटत्वत्व' का ज्ञान आवश्यक नहीं।

इस अभ्युपगम के पीछे युक्ति यह है कि (१) कोई भी विशिष्ट-ज्ञान उसके विशेषण-ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। अर्थात् विशेषण-ज्ञान का विशिष्ट-ज्ञान से पूर्व उपस्थित होना आवश्यक है। (२) अगर माना जाए कि 'विशेषण' के विशेषण का भी ज्ञान आवश्यक है तो जिस 'विशिष्ट-ज्ञान' की हम बात कर रहें हैं वह कभी सम्भव नहीं होगा क्यों कि इससे अनवस्था प्रसंग होगा। (३) जो भी कार्य के अव्यवहित-पूर्व होता है केवल वही उस कार्य का कारण होता है जो व्यवहित-पूर्व होता है वह नहीं। इसका कारण यह है कि जो व्यवहित-पूर्व होता है वह 'आवश्यक' नहीं होता। यहाँ पर 'अन्यथासिद्ध वस्तुओं' की संकल्पना को समझ लेना चाहिए। 'अन्यथासिद्ध' या 'व्यर्थ' वह होता है जो कार्य से 'ठीक पूर्व' या 'अव्यवहितपूर्व' उपस्थित रह कर कार्य को उत्पन्न नहीं करता। अर्थात् वह सारी वस्तुएँ जो कार्य से पूर्व से भी पूर्व(अर्थात् जो कारण के कारण हैं) उपस्थित रहती हैं उन्हे उस कार्य का कारण न मानकर 'अन्यथासिद्ध' माना जाता है।

इस प्रकार यह बात समझना कठिन नहीं हैं कि जब 'घटत्व' वाक्य में शब्द-द्वारा उल्लिखित होता है तब वह 'विशिष्टज्ञान' होने के कारण उसके विशेषण का अर्थात् 'घटत्वत्व' का ज्ञान उसके ज्ञान के लिए आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार हमारे दर्शन ने सिद्धान्त बनाया— 'केवल जाति और अखण्ड-उपाधि ही उनके विशेषण-ज्ञान के बिना ज्ञात होते हैं, जब शब्द में उनका उल्लेख नहीं होता। इसी को समझने का, आइए, प्रयास करते हैं—
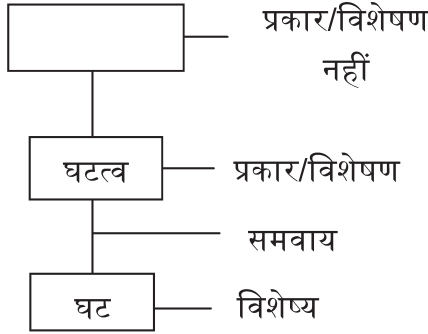
यह चित्र है 'घट' ज्ञान का। संस्कृत में इसका वर्णन होगा— घटविशेष्यकं-घटत्व-प्रकारकं-समवाय-संसर्गकं ज्ञानम्।
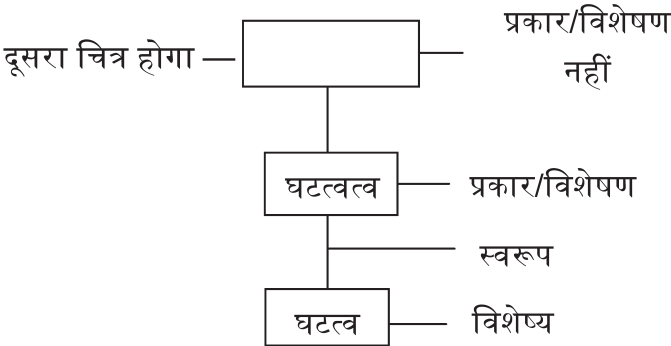
इन दो चित्रों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें विशेष्य और विशेषणों के नामों के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। ऐसा इसलिए कि जब 'घटत्व' शब्द में उल्लिखित हो गया तब वह भी विशिष्टज्ञान-विषय बन गया और इस कारण से उसके

विशेषण का ज्ञान भी उसके ज्ञान में समाविष्ट हो गया। इसे संस्कृत में इस प्रकार कहा जा सकता है— घटत्वविशेष्यकं-घटत्वत्वप्रकारकं-स्वरूपसंसर्गकं ज्ञानम्।

ग्रन्थ ७

सम्बन्धः सन्निकर्षः। स च विभिन्नयोः वस्तुनोः विशेषण-विशेष्य-भाव प्रयोजकः। यथा दण्डी पुरुष इति विशेष्य-विशेषण-भावप्रयोजकः संयोगसम्बन्धः। दण्ड-पुरुषयोरन्तरा संयोगं विना दण्डी पुरुष इति विशेषण-विशेष्य-भाव प्रतीतिरेव न स्यात्।

हिन्दी अनुवाद

'सम्बन्ध' सन्निकर्ष को अर्थात् एक दूसरे के पास होने को कहते हैं। वह (सम्बन्ध) दो वस्तुओं में विशेषण-विशेष्य-भाव उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, 'दण्डी पुरुष' में विशेष्य-विशेषण-भाव को कारणीभूत संबंध है संयोग। दण्ड और पुरुष के बीच संयोग के बिना 'दण्डी पुरुष' यह विशेषण-विशेष्य-भाव का ज्ञान ही नहीं होता।

टिप्पणी

'दण्डी पुरुष' (अर्थात् 'दण्डधारी पुरुष') इस ज्ञान का कारण है दण्ड और पुरुष में उपस्थित 'संयोग'। एक सीधी सी बात से इसे समझने में सरलता होगी— अगर 'दण्ड' कहीं कोने में पड़ा हो और पुरुष कहीं दूसरें स्थान पर हो तो 'दण्डी पुरुष' का ज्ञान कतई नहीं होगा। इसका चित्र कुछ ऐसे बनेगा—

जब तक इन दोनों में 'सम्बन्ध' की रेखा नहीं खींची जाती तबतक 'दण्डी पुरुष' का ज्ञान सम्भव नहीं। लेकिन, जब ये दो वस्तुएँ एक दूसरे के समीप आ जाए अर्थात् जब 'पुरुष' 'दण्ड' या लाठी को अपने हाथ में ले ले ऊपर बना चित्र बदल जाएगा। दोनों में से एक (इस उदाहरण में लाठी) विशेषण बनेगा तथा दूसरा (इस उदाहरण में पुरुष) विशेष्य बनेगा और तब इस बात को दर्शाने वाला चित्र कुछ ऐसा होगा—
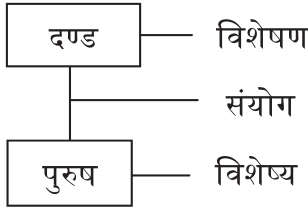
संक्षेप में देखा जाए तो 'संबंध' का प्रमुख कार्य यह है कि वह दो वस्तुओं को विशेषण तथा विशेष्य का रूप देता है। हमारे प्रस्तुत उदाहरण में जब 'लाठी' 'पुरुष' से दूर होती है तब वह पुरुष का विशेषण नहीं बन सकती; जब 'पुरुष' उसे (लाठी को) हाथ में लेता है तब वह अवश्य ही 'पुरुष' का विशेषण होती है।

अतः इस संदर्भ में हमें नीचे दिये गए मुद्दों पर ध्यान देना चाहिए :

(१) 'संबंध' का अर्थ है 'समीप होना'।

(२) यह दो वस्तुओं के बीच होता है।

और

(३) इसके कारण एक वस्तु दूसरी का विशेषण बन जाती है।

ग्रन्थ ८

सम्बन्धश्च द्विविधः। साक्षात्परम्पराभेदात्। सम्बन्धान्तराघटितः सम्बन्धः साक्षात्सम्बन्धः। स च समवाय-संयोग-स्वरूपादिभेदाद् बहुविधः। रूपवान् पुरुषः, पात्रे जलमस्ति, गृहे पटो नास्तीत्यादौ पुरुषे रूपस्य पात्रे जलस्य गृहे च पटाभावस्य यथाक्रमं समवाय-संयोग-स्वरूप-नामानः सम्बन्धाः प्रतीयन्ते।

हिन्दी अनुवाद

सम्बन्ध दो प्रकार का होता है— साक्षात् और परम्परा (ये दो भेद होने के कारण)। जो दूसरे (अर्थात् एक और) सम्बन्ध से नहीं बनता है वह साक्षात् सम्बन्ध कहलाता है। यह (साक्षात् सम्बन्ध) समवाय, संयोग तथा स्वरूप इत्यादि भेदों से अनेक प्रकार का है। 'रूप वाला पुरुष', 'पात्र में पानी है', 'घर में वस्त्र नहीं है'

इत्यादि में पुरुष का रूप से, पात्र का पानी से और वस्त्र के अभाव का घर से यथाक्रम से समवाय, संयोग और स्वरूप नामक सम्बन्ध प्रतीत होता है।

टिप्पणी

साक्षात् सम्बन्ध की संकल्पना स्पष्ट करने हेतु हमारे लेखक ने तीन उदाहरण लिए हैं।

(१) रूपवान् पुरुष

(२) पात्र में जल

और

(३) घर में वस्त्र का अभाव।

इनमें से पहला उदाहरण 'समवाय' सम्बन्ध का है। हमारे दर्शन में 'समवाय' को 'नित्य सम्बन्ध' कहा जाता है। 'नित्य' शब्द का अर्थ यहाँ पर थोड़ा सीमित है। इसका अर्थ यह है कि इस सम्बन्ध से दो ऐसी वस्तुएँ सम्बद्ध होती हैं जो एक दूसरे पर निर्भर होती हैं। 'ये दो वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर होती हैं' का अर्थ यह है कि इन दो वस्तुओं का ज्ञान कभी भी स्वतंत्र रूप से नहीं होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि, जब तक एक वस्तु का अस्तित्व है, वह दूसरी वस्तु पर आधारित ही होता है। इतना कहने के पश्चात् एक प्रश्न मन में आता है कि ऐसी कौन सी वस्तुएँ है अर्थात् वस्तुओं की जोड़ियाँ हैं जिनमें समवाय सम्बन्ध होता है? हमारे दर्शन में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध पदार्थों की पाँच जोड़ियाँ स्वीकृत हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'समवाय सम्बन्ध' केवल इन पाँच जोड़ियों में ही सम्भव है। ये पाँच जोड़ियाँ हैं—

(१) गुण और गुणी (अर्थात् द्रव्य)

(२) क्रिया और क्रियावत् (अर्थात् द्रव्य)

(३) जाति और व्यक्ति

(४) अवयवी और अवयव

और

(५) विशेष और नित्यद्रव्य

इस बात को चित्रों के माध्यम से भी ध्यान में रख सकते हैं—

और

(५)
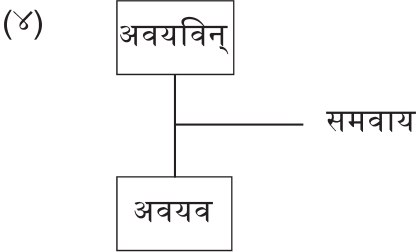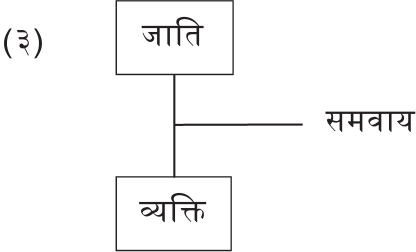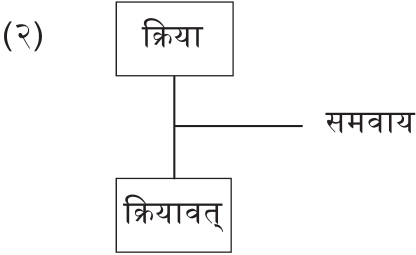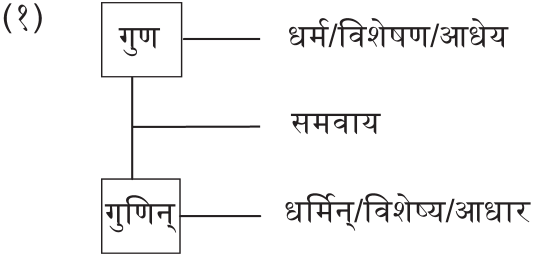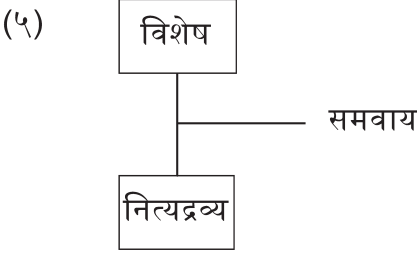
दूसरा साक्षात् सम्बन्ध है संयोग। संयोग एक अनित्य सम्बन्ध है और हमारे दर्शन में संयोग सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों में ही हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि, दो द्रव्यों के बीच केवल संयोग सम्बन्ध ही हो सकता है परन्तु इसका अर्थ यह है कि, संयोग सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों में ही हो सकता है। अर्थात् दो वस्तुएँ यदि (दोनों ही) द्रव्य नहीं है तो वे दोनों एक दूसरे से संयोग सम्बन्ध से जुड़ नहीं सकती। हमारे लेखक ने यहाँ पर जल और बर्तन का उदाहरण लिया है। जल और बर्तन दोनों ही द्रव्य होने के कारण संयोग संबंध से सम्बद्ध हैं।
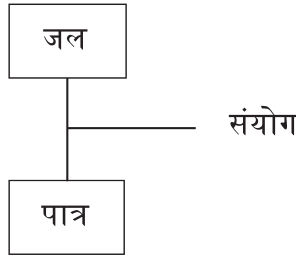
जब जल पात्र में होता है तब जल और पात्र के बीच संयोग (संबंध) होता है। यदि जल पात्र से निकाल दिया जाए तो दोनों के बीच का संयोग नष्ट होता है तथा यदि पात्र में पुनः जल रखा जाए तब उन दोनों में पुनः संयोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार, 'संयोग' के विषय में कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(१) संयोग सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों के बीच ही सम्भव है।

(२) यह एक कार्य है इसलिए यह उत्पन्न हो सकता है और नष्ट भी हो सकता है।

(३) हमारे दर्शन में संयोग एक गुण है, अर्थात् इसकी गणना गुणों में की गई

है। गुण होने के कारण संयोग अपने आधार में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

तीसरा साक्षात् सम्बन्ध है स्वरूप सम्बन्ध। इसका स्वरूप थोड़ा और समझ लेते हैं। इसके नाम से एक बात स्पष्ट है कि 'स्वरूप' सम्बन्ध कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है किन्तु जो दो पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं उनमें से एक को ही सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसका उदाहरण है 'घर में वस्त्र का अभाव'। इसका चित्र बनाते हैं—
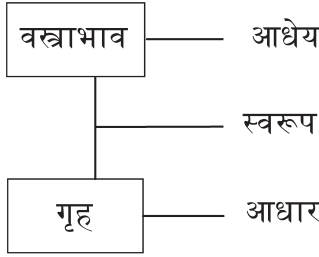
वस्तुतः यह चित्र केवल यह दिखाने के लिए बनाया है कि, 'वस्त्राभाव रूप आधेय तथा गृह रूप आधार के बीच स्वरूप सम्बन्ध है'। यहाँ पर इन दो सम्बन्धियों को पृथक् पृथक् दिखाना सम्भव नहीं है। परन्तु 'गृहे पटाभावः' (अर्थात् घर में वस्त्र का अभाव है) इस वाक्य से 'घर', 'वस्त्र के अभाव' का आधार है यह प्रतीत होता है। इसलिए ऊपर वाले चित्र जैसा चित्र बनाना पडता है। इस चित्र से 'गृह' तथा वस्त्राभाव में जो आधार-आधेय-भाव का सम्बन्ध है वह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। परन्तु यदि 'इस सम्बन्ध का नाम क्या है' ऐसा प्रश्न पूछा जाए तो इसका उत्तर होगा— 'अभाव का स्वरूप' या 'गृह-स्वरूप' को ही दोनों के बीच का सम्बन्ध माना जाए।

'स्वरूप सम्बन्ध' को मानने के लिए जो युक्ति है उसे समझने हेतु हम जहाँ जहाँ स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है ऐसे कुछ उदाहरण देखतें हैं— पहला उदाहरण तो वह है जो हमने अभी अभी देखा है- वह है 'अभाव तथा उसका आधार'। दूसरा उदाहरण है 'समवाय सम्बन्ध तथा उसका आधार'। ये ऐसे कुछ उदाहरण हैं जहाँ पर 'संयोग' अथवा 'समवाय' सम्बन्ध हो नहीं सकते।

जैसे एक उदाहरण लेते हैं, अभाव एक भावविरोधी पदार्थ है और इसलिए

वह किसी भी भाव-पदार्थ से संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं हो सकता, इसलिए कि ये दोनों सम्बन्ध केवल दो भावपदार्थों के बीच ही हो सकते हैं। यहाँ पर यह युक्ति भी नहीं दी जा सकती है कि अभाव और उसके आधार के बीच कोई सम्बन्ध ही ना हो क्योंकि इन दोनों के बीच सम्बन्ध है यह बात 'गृहे पटाभावः' अर्थात् घर में वस्त्र का अभाव है इस वाक्य रचना से ही स्पष्ट है। इसलिए ऐसे उदाहरणों में यह स्वीकार किया गया कि, दो सम्बन्धियों में से किसी एक सम्बन्धि को ही सम्बन्ध माना जाए। इसलिए इस सम्बन्ध का नाम रखा गया 'स्वरूप'— 'स्व' का अर्थात् सम्बन्धि का अपना रूप। अंग्रेजी में इसका अनुवाद 'Self-linking-relation' करना अर्थपूर्ण है क्योंकि इससे 'एक सम्बन्धि अपने आप को दूसरे सम्बन्धि से अपने द्वारा ही जोड़ता है (सम्बद्ध कर लेता है) इस वस्तुस्थिति को सूचित किया जाता है।

अब हम एक और उदाहरण लेते हैं। यह उदाहरण है समवाय सम्बन्ध का। 'समवाय सम्बन्ध सम्बन्धियों की केवल पाँच जोड़ियों के बीच होता है' इस बात का उल्लेख पहले आया है। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जो दो वस्तुएँ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होती हैं उन दोनों वस्तुओं से समवाय सम्बन्ध कैसे जुड़ता है? उदाहरणार्थ, यदि जाति और व्यक्ति एक सरे से समवाय से सम्बद्ध हैं तो प्रश्न यह है कि समवाय जाति से और व्यक्ति से भी किस सम्बन्ध से सम्बद्ध है? यह प्रश्न युक्तिसंगत है, क्योंकि, यदि समवाय दोनों से सम्बद्ध नहीं है तो वे दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं। यहाँ पर उत्तरस्वरूप यदि कहा जाए कि समवाय एक और समवाय से उन दो वस्तुओं से सम्बद्ध है तो फिर से उस समवाय के बारे में यही प्रश्न खड़ा हो सकता है और इसका परिणाम होगा अनवस्था-प्रसङ्ग। इस अनवस्था का परिणाम यह होगा की, जाति और व्यक्ति कभी जुड़ नहीं सकेंगे। इसका परिहार करने के लिए ऊपर उल्लिखित प्रश्न का उत्तर यह दिया गया कि 'समवाय' जाति और व्यक्ति दोनों से स्वरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो सम्बन्धियों में से एक सम्बन्धि को (ही) सम्बन्ध माना जाए। इस प्रकार कोई अनवस्था-प्रसङ्ग नहीं होगा। एक चित्र बनाने से इस बात को ध्यान में रखना सरल होगा।
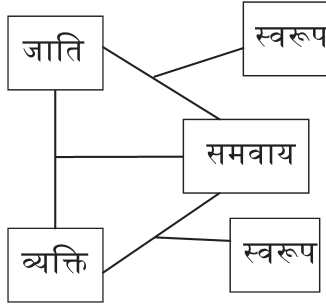
इस प्रकार 'स्वरूप सम्बन्ध' के विषय में कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं—

(१) यह सम्बन्ध केवल उन दो वस्तुओं में माना गया है जहाँ पर संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध की सम्भावना नहीं होती है।

(२) स्वरूप सम्बन्ध कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है अपि तु दो सम्बन्धियों में से एक को ही सम्बन्ध माना जाता है।

(३) इसका अंग्रेजी अनुवाद 'self-linking-relation' करना सही होगा।

** हमारे दर्शन में (१) संयोग (२) समवाय तथा (३) स्वरूप इस क्रम से सामान्यतः सम्बन्धों की चर्चा की जाती है परन्तु लेखक ने यह क्रम बदल कर पहले समवाय की चर्चा की है।

ग्रन्थ ९

समवायश्च षष्ठपदार्थतया कणादेनोक्तः नित्यः सम्बन्धः। यथा 'रूपवान् ब्राह्मणोऽयं चलति' इत्यादौ ब्राह्मणत्वजातेः रूपगुणस्य चलनक्रियायाश्च ब्राह्मणे समवायः सम्बन्धः। यावदाधारं यावदाधेयं वा समवायः तिष्ठतीति 'समवायो नित्यसम्बन्ध' इत्युच्यते। समवायस्यैव 'अयुतसम्बन्ध' इति नामान्तरम्। संयोगादिकन्तु नैवम्। सतोरपि आधाराधेययोः (दण्ड-पुरुषयोः) संयोगादेरपायदर्शनात्।

हिन्दी अनुवाद

कणाद ने जिसे छठे पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है, वह 'समवाय' एक नित्य सम्बन्ध है। जैसे 'रूपवान् ब्राह्मण चल रहा है' इस उदाहरण में 'ब्राह्मणत्व'

जाति, 'रूप' गुण तथा 'चलने की क्रिया' का ब्राह्मण से 'समवाय सम्बन्ध' है। 'समवाय' को 'नित्य सम्बन्ध' इसलिए कहा जाता है कि वह जबतक आधार का अथवा आधेय का अस्तित्व रहता है तब तक (उसके साथ) रहता है। 'समवाय' का ही दूसरा नाम है-'अयुत-सम्बन्ध'। संयोगादि ऐसे नहीं होते हैं। आधार तथा आधेय के (जैसे लाठी और पुरुष) होते हुए भी संयोग का नाश देखा जाता है।

टिप्पणी

'समवाय को एक स्वतन्त्र 'पदार्थ' के रूप में स्वीकार किया गया है। कणाद महर्षि के वैशेषिक दर्शन में पदार्थों की सूचि में इसका स्थान छठा है। इसको नित्य सम्बन्ध कहा गया है क्योंकि इस सम्बन्ध के जो दो सम्बन्धि होते हैं वे दोनों स्वतन्त्र रूप से अर्थात् एक सरे के बिना रह नहीं सकते। इसे इस प्रकार से समझ सकतें हैं— समवाय, दो सम्बन्धियों के बीच तब तक रहता है जब तक उन दोनों में से एक का नाश नहीं होता है। हमने पहले जिन पाँच जोड़ियों में समवाय सम्बन्ध होता है उनकी चर्चा की है। ये पाँच जोड़ियों में निर्दिष्ट सम्बन्धि कभी एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते हैं।

इस ग्रन्थ में लेखक ने जो उदाहरण लिया है उसमें उपरोक्त पाँच जोड़ियों में से तीन का उल्लेख हुआ है। वे तीन जोड़ियाँ हैं— जाति तथा व्यक्ति, गुण तथा गुणी और क्रिया तथा क्रियावान्। इस उदाहरण में ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व जाति है अर्थात् ब्राह्मणत्व जाति तथा ब्राह्मण व्यक्ति यह एक जोड़ी हुई। ब्राह्मण रूपवान् है अर्थात् रूप गुण है और ब्राह्मण है गुणी। यह दूसरी जोड़ी हुई। ब्राह्मण चल रहा है अर्थात् उसमें चलने की क्रिया है। यहाँ पर 'चलना' 'क्रिया' है और ब्राह्मण है क्रियावान्। इसलिए हम इसका चित्र ऐसे बना सकते हैं—
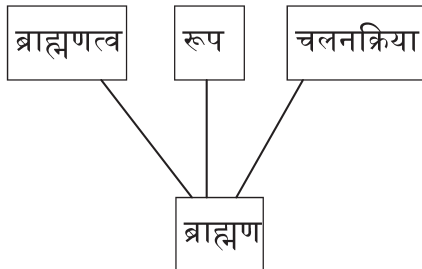
परन्तु इस चित्र का स्पष्टीकरण करने से अर्थ समझने में सहायता मिलेगी।
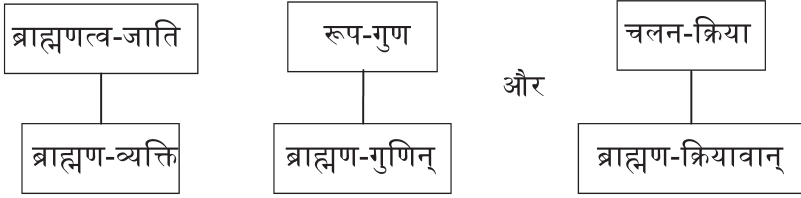
ग्रन्थ १०

संयोगश्च कणादोक्तगुणविशेषः। अभावादेः सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः। यथा 'भूतले पटो नास्ती'त्यादौ भूतले पटाभावस्य स्वरूपसम्बन्धः प्रतीयते। स्वरूपसम्बन्धस्यैव विशेषणता इति नामान्तरम्।

हिन्दी अनुवाद

महर्षि कणाद ने संयोग को एक गुण माना है। अभाव का (अपने आधार से) जो सम्बन्ध होता है वह है स्वरूप। जैसे 'भूमि पर वस्त्र नहीं है' इस उदाहरण में 'वस्त्र के अभाव' का भूमि से स्वरूप सम्बन्ध प्रतीत होता है। 'स्वरूप-सम्बन्ध' का ही दूसरा नाम है— 'विशेषणता'।

टिप्पणी

वैशेषिक तथा न्याय दर्शन ने संयोग का अन्तर्भाव गुणों में किया है। यह एक अनित्य सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह है कि संयोग एक या दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न होता है। जैसे हाथ और पुस्तक का संयोग हाथ की क्रिया से तथा प्रार्थना के लिए दो हाथों का संयोग दोनो हाथों की क्रिया से उत्पन्न होता है। इन्हीं दो कारणों से संयोग का नाश भी होता है (अर्थात् संयोग समाप्त होता है)। अर्थात् एक द्रव्य में क्रिया होने से संयोग समाप्त होता है जैसे पुस्तक से हाथ हटाने से या दो द्रव्यों की क्रिया से भी संयोग समाप्त होता है जैसे प्रणाम के बाद दोनों हाथों को दूर करने से हस्तद्वयसंयोग समाप्त होता है। इस तरह संयोग समवाय से भिन्न है।

हमारे दर्शन ने तीसरे प्रकार का एक सम्बन्ध माना है। वह है स्वरूप सम्बन्ध।

इसके विषय में कुछ चर्चा हमने पहले की है। यहाँ पर हमारे लेखक द्वारा दिए गए उदाहरण पर ध्यान देते हैं। यह उदाहरण है अभाव तथा उसके आधार का। जब 'भूतले पटः नास्ति' यह वाक्य सुनाई देता है, तब 'भूमि' पर कहीं 'वस्त्र का अभाव' प्रतीत होता है और इस बात का भी ज्ञान होता है कि भूमि पर अभाव स्वरूप सम्बन्ध से है।

इसे और समझने का प्रयास करते हैं— इस वाक्य की रचना से अर्थात् 'भूतले' में सप्तमी विभक्ति होने से यह पता चलता है कि 'भूतल' अर्थात् 'भूमि' आधार है। सप्तमी विभक्ति का अर्थ है आधार अथवा अधिकरण। इस तरह 'भूमि' 'वस्त्र के अभाव' का आधार है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि अभाव किस सम्बन्ध से भूमि से सम्बद्ध है? इसका उत्तर है— स्वरूप सम्बन्ध से। यह इसलिए कि 'अभाव' कोई द्रव्य नहीं है कि वह 'भूमि' रूप दूसरे द्रव्य से संयोग सम्बन्ध से जुड़ सके। ना ही अभाव एक विशिष्ट प्रकार का भावपदार्थ है जिससे वह समवाय सम्बन्ध से भूमि से सम्बद्ध हो सके। अतः 'अभाव' 'भूमि' से 'संयोग' अथवा 'समवाय' से नहीं जुड़ सकता है। परन्तु 'अभाव भूमि से सम्बद्ध है' इसमें कोई सन्देह नहीं। सन्देह इसलिए नहीं है क्योंकि 'भूतले घटः न' अथवा 'भूतले घटाभावः' इन वाक्यों की रचना से अभाव तथा भूमि का सम्बन्ध स्पष्ट है। अत एव यहाँ पर अभाव भूमि से अपने स्वरूप द्वारा ही सम्बद्ध है ऐसा कहना पड़ता है। इसका अर्थ हुआ अभाव भूमि से स्वरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध है।
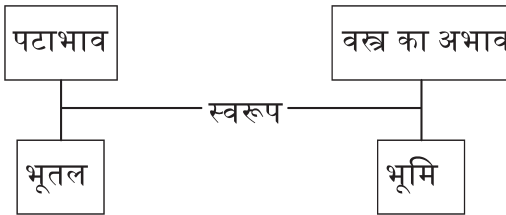
अब इस ग्रन्थ (१०) के अन्तिम विधान पर दृष्टिक्षेप करते हैं— 'स्वरूप सम्बन्ध' का ही दूसरा नाम 'विशेषणता' है। इस पर कुछ कहने से पहले नीचे दिए गए चित्र पर एक दृष्टिक्षेप करते हैं—
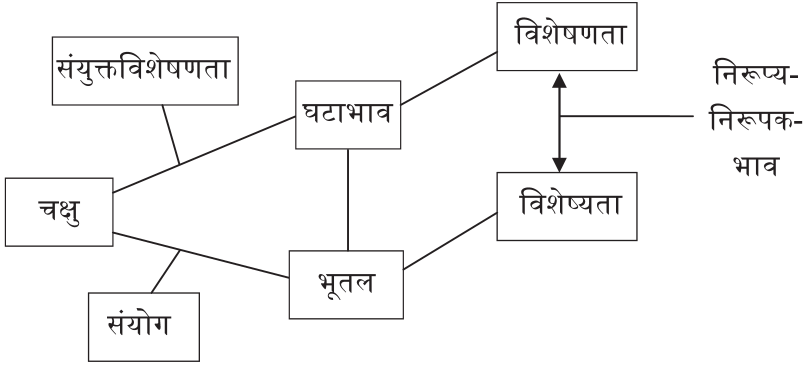
इस चित्र से यह स्पष्ट है कि, भूमिपर घड़े का अभाव है। इसका अर्थ यह हुआ कि घड़े का अभाव भूमि का (धर्म अर्थात्) विशेषण है और भूमि विशेष्य है। अर्थात् भूमि घड़े के अभाव से विशेषित है।

जब घड़े के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब आँखें (चक्षु) भूतल के विशेषण-स्वरूप अभाव के साथ भूतल द्वारा ही अर्थात् विशेष्य द्वारा ही सम्बद्ध होती हैं। इस प्रकार, आँखे तथा घड़े के अभाव के बीच जो सम्बन्ध अर्थात् सन्निकर्ष है, उसका वर्णन ऐसे कर सकतें हैं—

आँखों का घड़े के अभाव में स्थित विशेषणता के साथ का संयोग, जिसका निरूपण भूतल में स्थित विशेष्यता द्वारा किया गया है।

इसी को यदि हम संस्कृत में कहतें है तो इस तरह कह सकते हैं— चक्षुः संयुक्त-भूतलनिष्ठ-विशेष्यता निरूपित-घटाभावनिष्ठ-विशेषणता। अब 'स्वरूप-सम्बन्धस्यैव विशेषणता इति नामान्तरम्' का अर्थ स्पष्ट हुआ।

ग्रन्थ ११

सम्बन्धान्तरघटितः (यस्य सम्बन्धस्य निर्माणे सम्बन्धान्तरापेक्षा विद्यते तादृशः) सम्बन्धः परम्परा- सम्बन्धः। यथा स्व-समवायि-समवेतत्वरूपेण सामानाधिकरण्यनामकेन परम्परासम्बन्धेन पटे तन्तोरपि रूपमस्ति। अयञ्च सम्बन्धः समवायघटितः। एवं दण्डकमण्डलुधारिणि पुरुषे गृहे तिष्ठति सति स्व-संयोगि-संयोगित्वरूपेण स्वाश्रयाश्रयत्वेन परम्परासम्बन्धेन दण्डकमण्डलू अपि गृहे स्त इति। अयञ्च सम्बन्धः संयोगघटितः।

हिन्दी अनुवाद

जो सम्बन्ध दूसरे सम्बन्ध से घटित होता है (अर्थात् जिस सम्बन्ध की निर्मिति के लिए एक और सम्बन्ध की आवश्यकता होती है) उस सम्बन्ध को परम्परासम्बन्ध कहते हैं। जैसे स्व-समवायि-समवेतत्व-रूप सामानाधिकरण्य नामक परम्परा सम्बन्ध से धागे का रंग वस्त्र में होता है। यह सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध से निर्मित है। इसी प्रकार, जब घर में जिसके पास दण्ड और कमण्डलू हैं ऐसा व्यक्ति हो तब स्व-संयोगि-संयोगित्वरूप अथवा स्व-आश्रय-आश्रयत्व-रूप परम्परा सम्बन्ध से दण्ड और कमण्डलु भी घर में होते हैं। यह सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध से निर्मित है।

टिप्पणी

यहाँ पर परम्परा-सम्बन्ध की बात की गई है। इससे यह जान पडता है कि सम्बन्ध के दो प्रकार हैं— साक्षात् और परम्परा। दो वस्तुओं में स्थित साक्षात् सम्बन्ध को सरलता से समझा जा सकता है। जैसे दो वस्तुएँ जब एक दूसरे से जुड़ती हैं तब उस सम्बन्ध को साक्षात् सम्बन्ध कहा जाता है। परन्तु जब दो वस्तुएँ किसी दूसरे सम्बन्ध के द्वारा अर्थात् बीच में अतिरिक्त सम्बन्धि के साथ होने वाले अतिरिक्त सम्बन्ध के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होती हैं तब (उन दो वस्तुओं के बीच के) उस सम्बन्ध को परम्परा सम्बन्ध कहा जाता है। हमारे लेखक ने दो उदाहरणों के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है।

(१) जब यह कहा जाता है कि धागों का रंग वस्त्र में भी है तब उसका अर्थ होता है कि धागों का रंग वस्त्र में परम्परा सम्बन्ध से रहता है। धागों का रंग धागों में साक्षात् सम्बन्ध से होता है परन्तु परम्परा सम्बन्ध से अर्थात् इसके धागों के साथ के सम्बन्ध से वह वस्त्र में भी रहता है। इसे मूर्त रूप देने के लिए एक चित्र बनाते हैं—
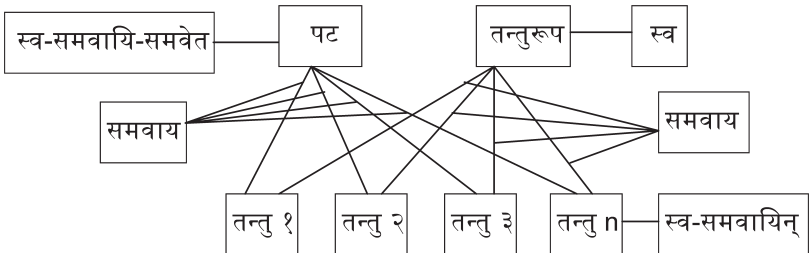
इस चित्र में एक बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है की तन्तुरूप (धागों का रंग) और पट (वस्त्र) दोनों ही तन्तुओं से समवाय नामक साक्षात् सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। अर्थात् दोनों का समान अधिकरण है तन्तु। इस प्रकार चूँकि वे दोनों (अर्थात् पट तथा तन्तुरूप) तन्तुओं में मिलते हैं, वे तन्तुओं द्वारा सम्बद्ध हैं। इसलिए, यदि कोई कहता है कि धागों का रंग वस्त्र में भी होता है तो उसका अर्थ होता है कि धागों का रंग और वस्त्र दोनों धागों में समवेत हैं अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं और इस प्रकार उन दोनों के बीच के सम्बन्ध को 'स्व-समवायि-समवेतत्व' यह नाम दिया जा सकता है। चूँकि दोनों सम्बन्धि एक ही आधार में समवाय सम्बन्ध से रहतें हैं इस सम्बन्ध को समवाय-घटित-परम्परा-सम्बन्ध कहतें हैं।

(२) दूसरे उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कभी कभी परम्परा सम्बन्ध संयोग-घटित भी होता है। कमण्डलु और लाठी वाला व्यक्ति घर में है। इस वाक्य को सुन कर कोई यह भी कह सकता है कि लाठी और कमण्डलु घर में हैं। लाठी और कमण्डलु का घर से सम्बन्ध उस व्यक्ति के द्वारा है जिसके पास ये दोनों वस्तुएँ हैं और इस प्रकार यह परम्परा-सम्बन्ध है। ये दो वस्तुएँ उस व्यक्ति से साक्षात् सम्बद्ध हैं और घर भी उस व्यक्ति से साक्षात् सम्बद्ध है। इसे नीचे दिए गए चित्र के माध्यम से समझते हैं—
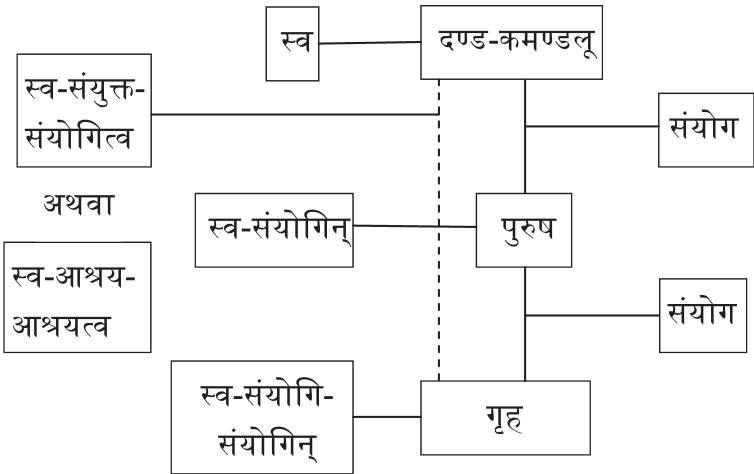
इस चित्र में हम देख सकते हैं कि, यहाँ पर दो साक्षात् सम्बन्ध हैं—

(१) व्यक्ति तथा घर के बीच और (२) व्यक्ति तथा दण्ड और कमण्डलु के बीच। दण्ड और कमण्डलु व्यक्ति के द्वारा घर में विद्यमान हैं। वह कैसे? दण्ड और कमण्डलु संयोग सम्बन्ध से व्यक्ति से सम्बद्ध है और व्यक्ति दूसरे संयोग से घर से जुड़ा हुआ है। इस तरह यदि हम दण्ड-कमण्डलु को इस सम्बन्ध का आरंभ अर्थात् 'स्व' मानते हैं, और सम्बन्ध का अन्त घर है जिसे स्व-संयोगि-संयोगिन् कहा जा सकता है क्योंकि घर संयोग सम्बन्ध से व्यक्ति से जुड़ा है जिसके साथ दण्ड-कमण्डलु भी संयोग सम्बन्ध से जुड़े हैं तो इस सम्बन्ध का नाम होगा— स्व-संयोगि-संयोगित्व सम्बन्ध। स्व है दण्डकमण्डलु, स्व-संयोगिन् है व्यक्ति और स्व-संयोगि-संयोगिन् है गृह। स्व-संयोगि-संयोगिन् का धर्म हुआ— स्व-संयोगि-संयोगित्व। इसी धर्म को सम्बन्ध माना गया है। इसीलिए दण्डकमण्डलु और गृह के बीच के 'स्व-संयोगि-संयोगित्व' रूप सम्बन्ध को दर्शाने के लिए बिन्दुओं की रेखा बनाई गई है ताकि यह पता चले कि यह सम्बन्ध साक्षात् नहीं अपितु परम्परा सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध को स्व-संयोगि-संयोगित्व के अतिरिक्त स्व-आश्रय-आश्रयत्व भी कहा जा सकता है। इसे समझना आसान है क्योंकि दण्ड और कमण्डलु का आश्रय है वह व्यक्ति और व्यक्ति का आश्रय है गृह अर्थात् घर। इस प्रकार घर दण्ड तथा कमण्डलु के आश्रय का आश्रय है अत एव परम्परा सम्बन्ध से वह (घर) दण्ड तथा कमण्डलु का आश्रय है। इसलिए दण्ड-कमण्डलु का घर से जो (परम्परा) सम्बन्ध है उसका नाम हुआ— स्व-आश्रय-आश्रयत्व।

इस तरह दण्ड और कमण्डलु का परम्परा सम्बन्ध से आश्रय है घर।

ग्रन्थ १२

समवायादि-साक्षात्सम्बन्धवत् परम्परासम्बन्धो न नियतसङ्ख्यकः नापि च नियतपरिमाणः। यथेच्छं सम्बन्धि-सम्बन्धादिकमादाय दीर्घ-दीर्घतर-दीर्घतमा असङ्ख्या एव ते कल्पयितुं शक्यन्ते। सर्वतोऽसंसृष्टावपि पदार्थौ परम्परासम्बन्धेन सम्बद्धौ भवतः। तत्र च दूरत्वादि न प्रतिबन्धकम्। तथा हि— स्वसम्राडधिकृतराज्यत्वसम्बन्धेन भारतवर्षीयाः सर्व एव आर्या अनार्याश्च इङ्ग्लण्डे सन्ति। इङ्ग्लण्डीयाश्च तत्र स्थिता अपि स्व-राज्येश्वरी-साम्राज्यत्व-सम्बन्धेन भारतवर्षे तिष्ठन्तीति।

हिन्दी अनुवाद

जैसे समवाय इत्यादि साक्षात् सम्बन्धों की सङ्ख्या तथा व्याप्ति सुनिश्चित होती हैं ऐसे परम्परा सम्बन्ध के विषय में नहीं है। अपनी इच्छा से सम्बन्धि और सम्बन्धों को लेकर असङ्ख्य परम्परा सम्बन्धों की कल्पना की जा सकती है। वे कितने भी दीर्घ, और दीर्घ, और भी दीर्घ हो सकते हैं। इसमें (दो वस्तुओं का) दूर होना प्रतिबन्धक नहीं होता। जैसे 'अपने राजा का अधिकार वाला राज्य होना' इस सम्बन्ध से सारे आर्य तथा अनार्य भारतीय लोग इङ्ग्लंड में रहते हैं तथा (सारे) अंग्रेज़ वहाँ (इङ्ग्लंड में) होते हुए भी, 'अपनी रानी का साम्राज्य होना' इस सम्बन्ध से भारतवर्ष में रहते हैं।

टिप्पणी

हमारे लेखक ने सम्बन्धों के तीन प्रकारों की चर्चा की है— समवाय, संयोग और स्वरूप। ये तीनों साक्षात्सम्बन्ध हैं। इनमें से 'संयोग' सम्बन्ध की मर्यादा यह है कि वह केवल दो द्रव्यों के बीच ही होता है; 'समवाय' एक नित्य सम्बन्ध है जो उन पाँच जोड़ियों के बीच ही होता है, जिसकी चर्चा हमने ग्रन्थ ८ की टिप्पणी में की है; तथा 'स्वरूप' सम्बन्ध केवल वहाँ पर माना जाता है जहाँ संयोग तथा समवाय सम्बन्ध की कोई सम्भावना नहीं होती है। इस तरह ये साक्षात्सम्बन्ध किसी विशिष्ट परिवेश में ही देखे जातें हैं।

लेखक ने इन सम्बन्धों तथा परम्परा सम्बन्ध के बीच के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, परम्परा सम्बन्ध के विषय में इस प्रकार सङ्ख्या तथा व्याप्ति की कोई मर्यादा नहीं होती है। अपनी इच्छा से कोई भी इन सम्बन्धों की (अर्थात् परम्परा सम्बन्धों की) कल्पना कर सकता है। इसमें बीच में कितने भी सम्बन्ध तथा सम्बन्धि भी हो सकते हैं। लेखक द्वारा दिए गए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी। उदाहरण हैं— (१) सारे भारतीय इङ्ग्लंड में रहते हैं; तथा (२) सारे अंग्रेज़ भारत में रहते हैं।

अब देखा जाए तो साक्षात् सम्बन्ध से यह असम्भव है। परन्तु परम्परा सम्बन्ध से ऊपर वाले दोनों उदाहरणों में कही गई बातें सम्भव हैं। इसके पीछे सीधी सी युक्ति है। 'अ' 'ब' से सम्बद्ध है और 'ब' 'क' से। इसलिए 'अ' 'क' से सम्बद्ध है। यह बात केवल 'ब' के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि 'अ' और 'क' दोनों 'ब'

से साक्षात् सम्बन्ध से जुड़े हैं। इस तरह, परम्परा सम्बन्ध में हमेशा एक से ज्यादा साक्षात् सम्बन्ध होते हैं तथा दो से अधिक सम्बन्धि होते हैं। दूसरे शब्दों में परम्परा सम्बन्ध की यह प्राथमिकता है।

ग्रन्थ १३

परम्परासम्बन्धस्य गूढं रहस्यमिदम्— स्वशब्देन यमभिप्रेत्य यस्य परम्परासम्बन्धस्य आरम्भः, यस्मिंश्च पर्यवसानं तत् तेन परम्परासम्बन्धेन तस्मिन् तिष्ठति। यथा पूर्वोक्ते उदाहरणे स्वशब्देन भारतवर्षीयान् अभिप्रेत्य स्वसम्राडधिकृत-राज्यत्व-सम्बन्धस्यारम्भः, तच्च राज्यत्वम् इङ्ग्लण्डे वर्तत इति तस्य इङ्ग्लण्डे पर्यवसानम्, अतः तेन सम्बन्धेन भारतवर्षीया इङ्ग्लण्डे तिष्ठन्ति।

हिन्दी अनुवाद

परम्परा सम्बन्ध का गूढ रहस्य यह है कि, 'स्व' शब्द से जिसके अभिप्राय से परम्परा सम्बन्ध की शुरुआत होती है तथा जिसमें (अर्थात् जिस वस्तु में) उसका अन्त होता है वह ('स्व'शब्द का अर्थ) उस परम्परा सम्बन्ध से उसमें (अर्थात् जिस वस्तु में सम्बन्ध का अन्त होता है उसमें) रहता है। जैसे ऊपर बताए गए उदाहरण में 'स्व' शब्द से भारतीयों के अभिप्राय से स्व-सम्राट-अधिकृत-राज्यत्व (नामक परम्परा) सम्बन्ध का आरम्भ है तथा चूँकि वह राज्यत्व इङ्ग्लण्ड में है, उसका (सम्बन्ध का) अन्त इङ्ग्लण्ड में है, इसलिए उस सम्बन्ध से भारतीय इङ्ग्लण्ड में रहते हैं।

टिप्पणी

यहाँ पर लेखक ने एक महत्त्वपूर्ण बात बताई है। सम्बन्ध की चर्चा शुरु हुई थी एक विधान से—'सम्बन्धः सन्निकर्षः' अर्थात् 'समीप होना' 'सम्बन्ध' है। परन्तु अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि यह विधान केवल साक्षात् सम्बन्ध के विषय में ही सत्य है। परम्परा सम्बन्ध की बात की जाए तो अन्तर या दो वस्तुओं की दूरी इसमें प्रतिबन्धक नहीं होती है। अपितु संसार में किसी भी वस्तु से किसी भी वस्तु को

'परम्परा सम्बन्ध' से जोड़ा जा सकता है। एक पारम्परिक उदाहरण यह है कि संसार का कोई भी मनुष्य दूसरे किसी भी मनुष्य से, 'एक ही मृत्यु से ग्रास किया जाना' नामक परम्परा सम्बन्ध से जुड़ सकता है क्योंकि सारे मनुष्य मर्त्य हैं।

इस तरह लेखक ने स्पष्ट किया है कि, एक वस्तु जिसे 'स्व' कहा जाता है वहाँ से परम्परा सम्बन्ध की शुरुआत होती है अर्थात् वह परम्परा सम्बन्ध का पहला सम्बन्धि होगा और यह पहला सम्बन्धि परम्परा सम्बन्ध के दूसरे सम्बन्धि में अर्थात् जो इस सम्बन्ध का अन्तिम बिन्दु होगा उसमें उस परम्परा सम्बन्ध से रहेगा।

इस तरह, इस ग्रन्थ में जो उदाहरण दिया गया है, उसमें 'स्व' शब्द से भारतीयों का निर्देश किया गया है जो इस परम्परा सम्बन्ध का पहला सम्बन्धि बना है और इङ्ग्लण्ड उसका दूसरा सम्बन्धि है। इसलिए, 'स्व-सम्राड्-अधिकृत राज्यत्व' नामक परम्परा सम्बन्ध से सारे भारतीय इङ्ग्लण्ड में रहते हैं। इस तरह भारतीयों का इङ्ग्लण्ड से सम्बन्ध राजा के द्वारा है जो भारत तथा इङ्ग्लण्ड दोनों देशों का राजा है। अंग्रेज़ लोगों के विषय में भी यही बात है। वे भारत से अपनी रानी द्वारा जुड़े हुए हैं। यह साक्षात् सम्बन्ध से सम्भव नहीं है। साक्षात् सम्बन्ध से अंग्रेज इङ्ग्लण्ड में तथा भारतीय भारत में ही रहते हैं। परन्तु परम्परा सम्बन्ध से, आपाततः अ-सम्बद्ध वस्तुएँ भी जुड़ी हुई बताई जा सकती हैं।

ग्रन्थ १४

पुनश्च सम्बन्धो द्विविधः। वृत्तिनियामकः वृत्त्यनियामकश्चेति। यस्मिंश्च सम्बन्धे सति एकस्मिन् अपरस्य वृत्तिता, आधाराधेयभावः आश्रयाश्रयिभावो वा प्रतीयते स सम्बन्धः वृत्तिनियामकः। वृत्ति-नियामकसम्बन्धस्थले आधारे सप्तमी विभक्तिः प्रयुज्यते। यथा भूतले घटः। आधेये च मतुबादयः प्रत्ययाः भवन्ति। यथा भूतलं घटवत्।

हिंदी अनुवाद

फिर से देखा जाए तो संबंध दो प्रकार के होते हैं। (१) वृत्ति-नियामक और (२) वृत्ति-अनियामक। जिस संबंध के होने से, एक वस्तुपर दूसरी वस्तु का होना (अर्थात् उन वस्तुओं में आधार-आधेयभाव या आश्रय-आश्रयि-भाव) समझ में

आता है, वह संबंध वृत्ति-नियामक सम्बन्ध होता है। जहाँ वृत्तिनियामक सम्बन्ध होता है, वहाँ पर आधार (वाचक शब्द) में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे जमीन पर घड़ा है। और आधेय (वाचक शब्द) में मतुबादि प्रत्यय होते हैं, जैसे घड़े वाली भूमि।

टिप्पणी

यहाँ पर लेखक ने सम्बन्धों का वर्गीकरण एक और दृष्टि से किया है। जैसे सम्बन्धों का वर्गीकरण साक्षात् और परम्परा इन दो वर्गों में होता है वैसे ही एक दृष्टि से देखा जाए तो वृत्ति-नियामक और वृत्ति-अनियामक इन दो वर्गों में भी हो सकता है। वृत्ति-नियामक सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जिसके होते हुए दो वस्तुओं में एक आधार और दूसरी आधेय है यह भान होता है।

हमारा ज्ञान भाषा से ही अभिव्यक्त होता है। इसलिए नव्य न्याय दर्शन में भाषा के उन सारे अङ्गों पर चर्चा होती है जिससे, 'एक विशिष्ट प्रकार का वाक्य एक विशिष्ट वस्तुस्थिति का द्योतक होता है'। इस वास्तविकता का भान पाठकों को हो। यही कारण है कि हमारे लेखक हमेशा इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं कि कैसे एक विशिष्ट प्रकार का संस्कृत वाक्य एक विशिष्ट वस्तुस्थिति को (ही) दर्शाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में, वृत्ति-नियामक और वृत्ति-अनियामक सम्बन्धों का उल्लेख करने के पश्चात् लेखक वृत्ति-नियामक सम्बन्ध को किसी वाक्य से कैसे पहचाने इसका वर्णन करने से नहीं चूकते। इसका अर्थ यही है की वृत्ति-नियामक सम्बन्ध भाषा की सतह पर कैसे अभिव्यक्त होता है यह बात लेखक स्पष्ट करना चाहते हैं। उन्होंने कहा है : आधार-वाचक प्रातिपदिक के बाद सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होगा अथवा आधेय-वाचक प्रातिपदिक के बाद मतुप् इ. प्रत्यय आएंगे। इस बात को दर्शाने के लिए उन्होंने दो उदाहरण न्याय-परम्परा से ही चुने हैं। (१) भूमि पर घड़ा है (भूतले घटः) और (२) भूमि घड़े वाली है (भूतलं घटवत्)। इन उदाहरणों में घड़ा भूमि पर आश्रित है अर्थात् आधेय है और भूमि घड़े का आश्रय या आधार है। वस्तुस्थिती केवल यह है—
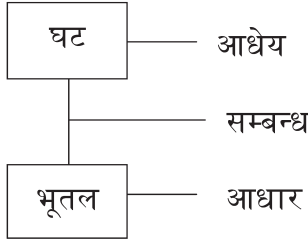
हमारे लेखक ने इङ्गित किया है कि यही एक वस्तुस्थिति को दर्शाने के लिए दो भिन्न वाक्यों का प्रयोग किया जा सकता है। 'भूमि पर घड़ा है' यह वाक्य उपर दर्शाई गई वस्तुस्थिति का ही निर्देश करता है। इस वाक्य का प्रयोग करने वाला व्यक्ति 'घड़े' को मुख्य विशेष्य बनाना चाहता है। अर्थात् वाक्यार्थ में सबसे महत्त्वपूर्ण पदार्थ 'घड़ा' है यही इस वक्ता का अभिप्राय है। इस वाक्य से यह सूचित किया जाता है कि भूमि पर घड़ा है, दूसरी कोई वस्तु नहीं। अर्थात् यहाँ भूमि से ज्यादा महत्त्व 'घड़े' को दिया गया है। दूसरी सम्भावना यह है कि कोई वक्ता इसी वस्तुस्थिति को दर्शाने के लिए 'भूमि घड़े वाली है' ऐसा वाक्यप्रयोग भी कर सकता है। यहाँ पर मुख्य विशेष्य 'भूमि' है न कि घड़ा। अर्थात् वक्ता का अभिप्राय यहाँ भूमि को महत्त्व देने में है। 'भूमि खाली नहीं परन्तु घड़ेसहित है' कहने के लिए, हो सकता है वक्ता ने सारा महत्त्व भूमि को दिया हो।

ग्रन्थ १५

वृत्तिनियामकसम्बन्धाश्च समवाय-संयोग-स्वरूप-प्रभृतय एव केचन। तेषु सम्बन्धेषु सत्सु पृथिव्यां रूपम्; कुण्डे बदरम्; भूतले घटो नास्तीत्यादि प्रयोगात्। समसूत्रपातेन स्थितयोर्हस्तयोः संयोगो न वृत्तिनियामक इति तत्र न 'हस्ते हस्त' इति प्रयोगः। तयोरेव हस्तयोः उपर्यधोभावेन स्थितयोः पुनः संयोगो वृत्तिनियामक इति तत्र 'हस्ते हस्त' इति प्रयोगोऽपि भवति।

अनुवाद

समवाय, संयोग, स्वरूप इत्यादि ही वृत्ति-नियामक सम्बन्ध हैं। क्योंकि इन सम्बन्धों के होने से, 'पृथिवी में रंग है', 'पात्र में बेर है', 'भूमि पर घड़ा नहीं है'

इत्यादि प्रयोग होते हैं। लम्बवत् खडी हुई दो वस्तुओं का संयोग भी वृत्तिनियामक नहीं होता। इसीलिए नमस्कार की मुद्रा में खड़े दो हस्तों का संयोग वृत्तिनियामक न होने के कारण ही उसके लिए 'हाथ पर हाथ' ऐसा प्रयोग नहीं होता। परन्तु वही दो हाथ जब उपर-नीचे इस स्थिति में आते हैं तब उनका संयोग वृत्तिनियामक होता है और इसी कारण वहाँ पर 'हस्ते हस्तः' अर्थात् 'हाथ पर हाथ' ऐसा प्रयोग होता है।

टिप्पणी

यहाँ एक ही मुद्दा ध्यान में रखना है कि वृत्तिनियामक सम्बन्ध दो वस्तुओं में होने वाला आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। जब भी और जहाँ भी ''य' आधार है 'क्ष' का' ऐसा भाव आता है, जैसे,
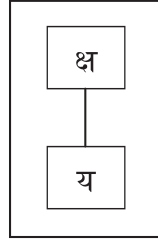
तब तब और वहाँ वहाँ उन दोनों का सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहलाता है। जहाँ पर 'क्ष' का आधार 'य' है ऐसी भावना नहीं होती परन्तु 'क्ष' और 'य' में सम्बन्ध होता है, जैसे,
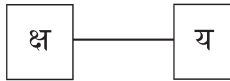
वहाँ पर 'क्ष' और 'य' के बीच का सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक कहलाता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने लायक है कि समवाय सम्बन्ध हमेशा 'वृत्ति-नियामक' ही होता है। समवाय सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होने का एक भी उदाहरण नहीं है। इसका कारण यह लगता है की समवाय सम्बन्ध 'व्याप्यवृत्ति' अर्थात् अपने आधार में पूरी तरह व्याप्त होता है किन्तु संयोग सम्बन्ध 'अव्याप्यवृत्ति' होता है। अर्थात् संयोग अपने आधार के कुछ ही भाग में रहता है या यह कह सकते हैं कि वह अपने अभाव के साथ अपने आधार में रहता है। इसी कारण संयोग हमेशा वृत्ति-नियामक

नहीं होता। जैसे नमस्कार की मुद्रा में जोड़े गए दो हाथों का संयोग!

ग्रन्थ १६

यस्मिंश्च सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते केवलं सम्बन्धितामात्रं स वृत्ति-अनियामकः सम्बन्धः। तत्र सप्तमीविभक्तेः मतुबादिप्रत्ययस्य च प्रयोगो न भवति। किन्तु सम्बन्धित्वबोधकाः इन्-ईय-प्रभृतयः प्रत्ययाः प्रयुज्यन्ते। यथा स्वत्वसम्बन्धो न वृत्तिनियामकः इति मन्त्रिणि सत्यपि स्वत्वसम्बन्धे [‘मन्त्री राजवान्’ इति किंवा ‘मन्त्रिणि राजा’ इति न प्रयोगः] ‘राजा मन्त्रिवान्’ किंवा ‘राज्ञि मन्त्री’ इति न प्रयोगः किन्तु ‘राजकीयो मन्त्री’ इति प्रयोगः।

हिन्दी अनुवाद

जिस सम्बन्ध में, पहले जिसकी चर्चा आई है उस वृत्तिता का (अर्थात् किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अथवा दूसरी वस्तु पर रहना) अथवा आधाराधेयभाव का ज्ञान नहीं होता परन्तु केवल सम्बन्ध होने का भान होता है वह सम्बन्ध वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध कहलाता है। ऐसे स्थान पर सप्तमी विभक्ति का या फिर मतुप् इत्यादि प्रत्ययों का प्रयोग नहीं होता है परन्तु सम्बन्ध के होने के बोधक इन्-ईय इत्यादि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। जैसे (उदाहरण के लिए) ‘स्वत्व’सम्बन्ध वृत्तिनियामक न होने के कारण, मन्त्री में स्वत्व-सम्बन्ध होते हुए भी, [राजा वाला (अर्थात् जिसका राजा हो) मन्त्री या मन्त्री पर राजा ऐसा प्रयोग नहीं होता है] ‘मन्त्री वाला राजा’ या ‘राजा पर मन्त्री’ ऐसा प्रयोग नहीं होता है परन्तु ‘राजकीय मन्त्री’ ऐसा प्रयोग होता है।

टिप्पणी

ऊपर लिखे गए ग्रन्थ १६ में मूलतः जो पङ्क्ति है वह है—‘मन्त्रिणि सत्यपि स्वत्वसम्बन्धे, ‘मन्त्री राजवान्’ इति किंवा ‘मन्त्रिणि राजा’ इति न प्रयोगः किन्तु ‘राजकीयो मन्त्री’ इति प्रयोगः।’ इस ग्रन्थ में थोड़ा संशोधन आवश्यक है। ऊपर लिखी हुई मूल पङ्क्ति को बदलकर इस तरह लिखना चाहिए— मन्त्रिणि सत्यपि

स्वत्वसम्बन्धे 'राजा मन्त्रीवान्' इति किंवा 'राज्ञि मन्त्री' इति न प्रयोगः......

इस संशोधन की आवश्यकता को इस प्रकार से समझा जा सकता है— राजा और मन्त्री के बीच जो सम्बन्ध है वह है, 'स्व-स्वामि-भाव' अर्थात् मालिक-सेवक-सम्बन्ध। इस राजा और मन्त्री के उदाहरण में राजा स्वामी है और मन्त्री उसका सेवक (जिसपर राजा का अधिकार है) है। मतुप् प्रत्यय जो कि 'तदस्यास्ति' (अर्थात् यह इसका है) इस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह, जो वस्तु जिसकी अपनी है (जिसपर उसका स्वामी होने के कारण उसका अधिकार है) उस वस्तुवाचक पद के बाद आता है। जैसे धनवान् चैत्रः बुद्धिमान् ब्राह्मणः इत्यादि। चैत्र धन का स्वामी होने के कारण उसे धनवान् कहा गया है। अर्थात् 'धन' जिसका चैत्र मालिक है, उसके बाद मतुप् प्रत्यय आता है जिससे चैत्र उसका मालिक है यह स्पष्ट होता है। उसी प्रकार हमारे प्रस्तुत उदाहरण में मन्त्री का स्वामी है राजा और इसलिए राजा को मन्त्रिवान् कहना चाहिए न कि मन्त्री को राजवान्। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो 'मन्त्री' जो राजा का 'स्व' है (जिसपर राजा का अधिकार है) उसके बाद ही मतुप् प्रत्यय आना चाहिए न कि 'राजा' के बाद जो स्वामि है। इसलिए 'राजवान् मन्त्री' यह शब्दप्रयोग उचित नहीं है। इससे 'राजा' 'मन्त्री' का 'स्वामी' है यह बोध नहीं होगा। इसका अर्थ होगा 'मन्त्री' 'राजा' का स्वामी है जो उचित नहीं है। इसलिए मूल ग्रंथ की पङ्क्ति में संशोधन का सुझाव दिया गया है।

दूसरा शब्दप्रयोग 'मन्त्रिणि राजा' भी सही नहीं है। यहाँ पर 'राज्ञि मन्त्री' होना चाहिए था ऐसा प्रस्तुत अनुवादक का मानना है। इसका भी कारण वही है जो उपर स्पष्ट किया गया है। जिन्होंने बङ्गला में इस पुस्तक का अनुवाद किया है उन कालिपद तर्काचार्य की दृष्टि से भी यह बात छूट गई है क्योंकि उन्होंने मूल पङ्क्ति में बिना कोई परिवर्तन किये अनुवाद किया है। (द्रष्टव्यः महेशचन्द्र न्यायरत्न का नव्यन्यायभाषाप्रदीप, कालिपद तर्काचार्य के वङ्गानुवाद सहित, संस्कृत कॉलेज रिसर्च सीरीज, 79, कोलकाता, पृ.17)

यहाँ पर हमारे लेखक ने 'वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध' की सङ्कल्पना को स्पष्ट रूप से समझाया है। इसे ठीक से समझने के लिए हमे वृत्ति-नियामक सम्बन्ध से इसका पार्थक्य ध्यान में लेना चाहिए। हमें याद रखना है कि वृत्तिनियामक सम्बन्ध हमेशा आधार-आधेय-भाव का भान कराता है। यह बात हम इस चित्र की सहायता

से याद करेंगे।
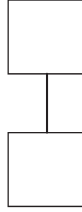
जब भी ऊपर बनाए गए चित्र की तरह एक वस्तु दूसरी वस्तु में या उसके ऊपर है ऐसा भान होता है तब तब वह वृत्ति-नियामक सम्बन्ध कहलाता है। किन्तु वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध वह होता है जिसके होने से एक वस्तु दूसरी वस्तु में या दूसरी वस्तु के उपर अधिष्ठित है अर्थात् एक आधेय है और दूसरी आधार यह भान कतई नहीं होता परन्तु दो वस्तुएँ परस्पर-सम्बद्ध हैं इतना ही पता चलता है। इस सम्बन्ध का चित्र कुछ ऐसा बनेगा—
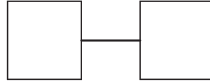
दो वस्तुएँ सम्बद्ध हैं लेकिन उनमें आधार-आधेय-भाव सम्बन्ध नहीं है।

हमारे लेखक ने इन दोनों सम्बन्धों को वाक्य की सतह पर कैसे पहचाना जा सकता है यह भी स्पष्ट कर दिया है। वृत्तिनियामक सम्बन्ध को जब वाक्य में अभिव्यक्त किया जाता है तब जिन दो वस्तुओं में वह होता है उनमें से आधारवाचक शब्द (प्रातिपदिक) के बाद सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे 'भूतले घटः'। भूतल और घड़े के बीच संयोग सम्बन्ध है जो कि भूतल घड़े का आधार होने से और घड़ा भूतल का आधेय होने से वृत्ति-नियामक है। इसलिए भूतल, जो कि इनमें से आधारवाचक है, उसके बाद सप्तमी विभक्ति आई है। दूसरी सम्भावना यह है कि वृत्तिनियामक सम्बन्ध को वाक्य में अभिव्यक्त करने के लिए आधेयवाचक पद मतुबादि प्रत्यययुक्त होता है। जैसे ऊपर वाले उदाहरण में 'घट' के बाद मतुप् प्रत्यय आएगा और वाक्य बनेगा, घटवद् भूतलम्। इस तरह वृत्तिनियामक सम्बन्ध को दो प्रकारों से शब्दबद्ध किया जा सकता है।

परन्तु वृत्ति-अनियामक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने के लिए वाक्य में न तो

सप्तमी विभक्ति और न ही मतुबादि प्रत्ययों का प्रयोग होता है। क्योंकि इस सम्बन्ध से सम्बद्ध दो वस्तुओं में आधाराधेयभाव नहीं होता है अपितु दोनों केवल सम्बद्ध होती हैं। इसलिए इस सम्बन्धसामान्य को अभिव्यक्त करने हेतु इन ईय जैसे प्रत्यय या षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए हम 'राजकीयो मन्त्री' या 'चैत्रस्य धनम्' को याद कर सकते हैं। इन के चित्र अगर हम बनाएँ तो वह कुछ इस तरह बनेंगे—
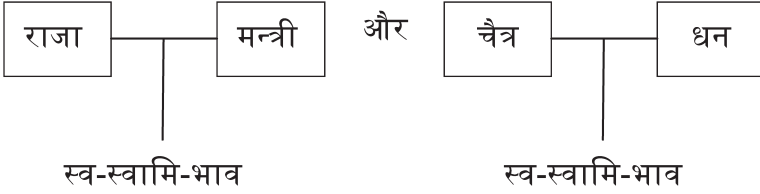
ग्रन्थ १७

परम्परासम्बन्धाः प्रायशः सर्व एव वृत्त्यनियामकाः अत एव शिखिनि पुरुषे गृहे तिष्ठति सति स्वाश्रय-पुरुषाश्रयत्व-सम्बन्धेन 'शिखावद् गृहम्' इति न प्रयोगः।

हिन्दी अनुवाद

प्रायः सारे ही परम्परासम्बन्ध वृत्ति-अनियामक होते हैं। इसीलिए जब कोई जटाधारी आदमी घर में होता है तब स्व-आश्रय-पुरुष-आश्रयत्व सम्बन्ध से 'घर में जटा है' ऐसा कोई नहीं कहता अर्थात् ऐसा प्रयोग नहीं होता है।

टिप्पणी

हमने पहले देखा है कि, दो वस्तुएँ, जो साक्षात् सम्बन्ध से कतई सम्बद्ध नहीं हैं वह परम्परा सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु जब भी हम इस प्रकार से परम्परा सम्बन्ध की बात करते हैं तब इस सम्बन्ध से सम्बद्ध उन दो वस्तुओं में आधार-आधेय-सम्बन्ध का भान नहीं होता है।

हमारे लेखक ने जो उदाहरण लिया है वह है 'जटाधारी पुरुष का घर में होना'।

इससे 'जटा' का घर से सम्बन्ध है यह तो पता चलता है लेकिन 'जटा घर में है' यह भान कतई नहीं होता है।

वस्तुतः यह बात कितनी सही है यह समझ में आ जाएगा हमारे लेखक ने परम्परा सम्बन्ध का जो पहला उदाहरण दिया था उसे याद करने से। वह उदाहरण था, 'सारे भारतीय उस राजा के द्वारा इंग्लैंड में रहते हैं जो उनपर राज्य कर रहा है! यहाँ भी इंग्लैंड देश भारतीयों का वास्तविक आधार है यह भान नहीं होता है। भारतीय इंग्लैंड से सम्बद्ध है इतना ही समझा जाता है।

ग्रन्थ १८

कालिकनामकः सम्बन्धः कश्चित् वृत्तिनियामकः कश्चित् वृत्त्यनियामकोऽस्ति। वृत्तिनियामकेन कालिकसम्बन्धेन काले सर्वं वर्तते। स च कालः महाकालरूपः खण्डकालरूपश्च। 'काले सर्वम्' इति महाकालविषयिणी प्रतीतिः।

हिन्दी अनुवाद

'कालिक' नाम का एक सम्बन्ध है जो कभी कभी वृत्तिनियामक (अर्थात् आधाराधेयभाव का भान कराने वाला) होता है तो कभी कभी वृत्ति-अनियामक (अर्थात् केवल सम्बन्ध-सामान्य) होता है। वह 'काल' 'महाकाल' और 'खण्डकाल' इस तरह से दो प्रकार का है। 'काले सर्वम्' (अर्थात् 'सबकुछ काल में स्थित है') यह जो ज्ञान है उसका विषय 'महाकाल' है न कि 'खण्डकाल'।

टिप्पणी

हमारे लेखक ने, अब तक यह दर्शाया है कि सम्बन्ध को भिन्न भिन्न दृष्टिकोन से देखा जा सकता है। एक दृष्टि से देखा जाए तो सम्बन्धों को 'साक्षात्' और 'परम्परा' इन दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है; दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो सम्बन्ध के, 'वृत्तिनियामक' और 'वृत्ति-अनियामक' यह दो प्रकार हो सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थाङ्क में लेखक ने नव्यन्याय में स्वीकृत एक अलग से सम्बन्ध का निर्देश किया है; और वह सम्बन्ध है, 'कालिक सम्बन्ध'। यह एक विशेष प्रकार का

सम्बन्ध है क्योंकि 'काल' (अर्थात् समय) एक ऐसी सङ्कल्पना है जिसे विशेष रूप से ही देखा गया है बल्कि देखा जाना चाहिए।

'कालिक सम्बन्ध' क्या होता है? हमारे दर्शन के अनुसार 'काल' समूचे जगत् का आधार है। विश्वनाथ ने भाषापरिच्छेद में कहा ही है— **'जन्यानां जनकः कालः जगतामाश्रयो मतः'।** इस दर्शन का मानना है— 'सर्वाधारः कालः'। काल या समय केवल एक ही है। हमने इस काल को सेकंद, मिनट, घण्टे, दिन, हफ्ते, पखवाड़े, महीने, साल इत्यादि में बाँट दिया है, हमारी अपनी सुविधा के लिए। इस वर्गीकरण का मूलाधार है सूर्य की गति(!)। दूसरे शब्दों में हमारी मर्यादित या सीमित समझ के लिए और उसीके अनुसार हमने विविध परिमाणों से समय को परिच्छिन्न (सीमित) किया है। वह इसलिए कि उसके बिना हम समय को ना तो समझ सकते हैं ना ही उसके बारे में चर्चा कर सकते हैं। समय असल में एक है, अनादि-अनन्त है और यह बात हम भली भाँति जानते हैं अर्थात् समझ सकते हैं। इसीलिए हमारे दर्शन ने माना है कि विश्व में जो कुछ भी है वह सबकुछ समय में रहता है।

कालिक सम्बन्ध के बारे में और थोड़ी चर्चा करने से बात थोड़ी और स्पष्ट हो जाएगी। लेखक ने एक बात स्पष्ट की है कि कालिक सम्बन्ध कभी वृत्तिनियामक होता है तो कभी कभी नहीं होता है। इसको समझने के लिए हम दो उदाहरण लेते हैं— (१) सब कुछ समय में रहता है और (२) 'क्ष' और 'य' समसामयिक हैं। इनमें जो पहला उदाहरण है उसमें 'समय' को 'सबकुछ' का अर्थात् 'विश्व' का आधार बताया गया है इसलिए यह वृत्तिनियामक सम्बन्ध का उदाहरण है। दूसरे उदाहरण में 'महाकाल' को 'क्ष' और 'य' का आधार नहीं बताया गया है। इसमें 'समय' के उस खण्ड की बात की गई है जो 'क्ष' और 'य' दोनों का काल है। इसलिए इस बात को दो प्रकारों से समझा जा सकता है— (१) 'क्ष' उस 'खण्डकाल' में है जब 'य' का अस्तित्व है। अथवा (२) 'क्ष' 'कालिक सम्बन्ध' से 'य' में रहता है। अगर हम इस बात को (१) की तरह समझते हैं तो इससे हमे 'क्ष' और 'य' दोनों का आधार एक समान 'खण्डकाल' हैं यह भान होता है और (२) यद्यपि बताता है की 'क्ष' 'य' में स्थित है तथापि इसका अर्थ केवल इतना ही है की 'क्ष' और 'य' समसामयिक हैं। इस तरह दोनों प्रकार की समझ केवल 'भाषिक' सतह पर भिन्न है न कि 'अर्थ' की सतह पर! हमारे लेखन ने यहाँ इस पर विस्तार से चर्चा नहीं की है। बाद में

भी, 'अभाव' की चर्चा के सम्बन्ध में लेखक ने केवल यह कहा है कि 'कालिक सम्बन्ध' से सबकुछ सर्वत्र उपस्थित है। हम भी उसकी चर्चा उस ग्रन्थ की टिप्पणी में करेंगे।

ग्रन्थ १९

'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' इति प्रतीतेः 'द्वौ' 'द्वित्ववान्' इति पदयोः अर्थविशेषावधारणाय नवीनैः कश्चित् पर्याप्तिनामकः सम्बन्धः स्वीक्रियते। पर्याप्तिः पर्यवसानम्, साकल्येन सम्बन्धः। अर्थात् यस्य यावन्तः आश्रयाः सन्ति तावत्स्वेवाश्रयेषु मिलितेष्वेव सम्बन्धः। पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वसङ्ख्या मिलितयोरेव द्वयोर्वर्तते न त्वेकैकस्मिन् द्वयोर्वा। अत एव द्वित्वादयः सङ्ख्याः व्यासज्यवृत्तयः (व्यासज्य सर्वमेव आधारमधिकृत्य वर्तन्त) इत्युच्यते। द्विशब्दस्य पर्याप्ति-सम्बन्धेन द्वित्वाधारताप्रतीतेः एकस्य च पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वाधारत्वाभावात् 'अयं न द्वौ' इति प्रतीतिः भवति। समवायसम्बन्धेन पुनः द्वित्वाश्रय इत्यर्थमभिप्रेत्य 'द्वित्ववान्' इति प्रयोगः। ततश्च 'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' इति वाक्यस्य, 'अयं न पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्ववान् किन्तु समवायसम्बन्धेन द्वित्ववान्' इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद

'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' (यह दो नहीं है परन्तु इसमें द्वित्व है।) इस (शाब्द) ज्ञान में आए हुए 'द्वौ', द्वित्ववान् इन पदों के विशेष अर्थ की निश्चिति के लिए नव्य नैयायिकों ने 'पर्याप्ति' नामक एक सम्बन्ध माना है। पर्याप्ति का अर्थ है पर्यवसान अर्थात् सम्पूर्ण सम्बन्ध। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस (धर्म) के जितने आधार हैं उन सब आधारों में (उस धर्म का) एकसाथ होना। द्वित्वसङ्ख्या पर्याप्ति सम्बन्ध से एकसाथ दो वस्तुओं में होती है दो में से एक एक में अलग से नहीं। इसीलिए द्वित्व इत्यादि सङ्ख्याओं को व्यासज्यवृत्ति (व्यासज्य अर्थात् समूचे आधार में रहने वाली) कहा जाता है। 'दो' शब्द से पर्याप्ति संबंध से द्वित्व सङ्ख्या का आधार (अर्थात् दो वस्तुएँ) प्रतीत होता है और पर्याप्ति सम्बन्ध से एक (वस्तु) द्वित्व (सङ्ख्या) का आधार हो नहीं सकती इसलिए 'अयं न द्वौ' (यह (एक वस्तु)

दो नहीं है) यह ज्ञान होता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध से दो (वस्तुओं) में से एक एक (वस्तु) में भी द्वित्व सङ्ख्या का अस्तित्व होता है इसलिए (यह एक वस्तु) समवाय सम्बन्ध से द्वित्व का आश्रय है इस अर्थ को समझाने के अभिप्राय से 'द्वित्ववान्' का प्रयोग किया जाता है। इस तरह 'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' (यह दो नहीं है परन्तु इसमें द्वित्व है।) इस वाक्य का अर्थ हुआ अयं न पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्ववान्, किन्तु समवायसम्बन्धेन द्वित्ववान् अर्थात् इस (वस्तु) में पर्याप्ति सम्बन्ध से दो सङ्ख्या नहीं है परन्तु समवाय सम्बन्ध से (दो सङ्ख्या = द्वित्व) है।

टिप्पणी

नीचे दिये गए चित्र से, 'यह (वस्तु) दो नहीं है किन्तु इसमें 'दो सङ्ख्या' है' इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट होने में सहायता होगी।
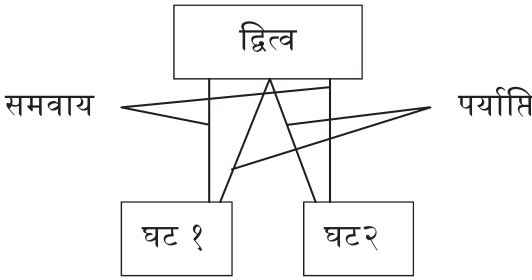
इस चित्र से, द्वित्व कैसे एक एक घट(व्यक्ति) में समवाय सम्बन्ध से और दोनों घटों में एकसाथ, एक ही समय पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है यह देखने को मिलता है। 'अयं न द्वौ किन्तु द्वित्ववान्' इस वाक्य में जो विचार प्रकट हुआ है उसकी रचना का विश्लेषण और स्पष्टीकरण देने में नव्यन्याय का योगदान है। इस वाक्य से जिस वास्तव की अभिव्यक्ति हुई है उसको समझने में नव्यन्याय दर्शन सहायक हुआ है। वह वास्तव यह है : दो सङ्ख्या दो वस्तुओं में रहती है। अब दो वस्तुओं में रहने के लिए उसे पहले दो में से एक-एक में (अर्थात् हर एक में) रहना होगा। यह तर्क के लिए अर्थात् युक्तिसङ्गत होने के लिए आवश्यक है। यही 'यह दो नहीं पर इसमें दो सङ्ख्या है' इस वाक्य में, (जिसकी चर्चा हम कर रहें हैं) प्रतीत होता है। इस वाक्य का सही अर्थ समझने के लिए और इस वाक्य से प्रतीत होने वाली युक्तियुक्त आवश्यकता का स्पष्टीकरण करने के लिए नव्यन्याय दर्शन ने पर्याप्ति नामक एक

सम्बन्ध स्वीकार किया है, जिससे कोई धर्म अपने सभी आधारों में, समूह से और एक ही समय पर, स्थित होता है। अर्थात् जब उसकी अपेक्षा होती है।

एक और उदाहरण लेकर इसे समझते हैं। सभी घड़ों में घटत्व (अर्थात् घड़ापन) रहता है। यह हर एक घड़े में और केवल घड़े में ही रहता है। अर्थात् घड़े को छोड़ किसी दूसरी वस्तु में नहीं होता है। और यह भी है कि घटत्व एक ही समय पर हर एक घड़े में रहता है। इस तरह घटत्व के अस्तित्व को लेकर हम दो विधान कर सकते हैं : (१) घटत्व सभी घटों मे रहता है और (२) घटत्व एक एक घड़े में अर्थात् हर एक घट-व्यक्ति में होता है।

अब चूँकि हमने पहले पर्याप्ति सम्बन्ध की चर्चा की है यह समझना कठिन नहीं है कि घटत्व हर घड़े में समवाय सम्बन्ध से रहता है और सभी घड़ों में एक साथ एक ही समय पर पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार, यह समझना भी आसान ही है कि अवच्छेदकता नामक धर्म सभी अवच्छेदकों में एक साथ एक ही समय पर पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है और एक एक अवच्छेदक (व्यक्ति) में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है। अब हम इसके दो चित्र बनाते हैं और इस विषय की हमारी चर्चा समाप्त करते हैं। अवच्छेदकता नामक धर्म का केवल उल्लेख यहाँ आया है। उसकी चर्चा अग्रिम ग्रन्थ में होगी।
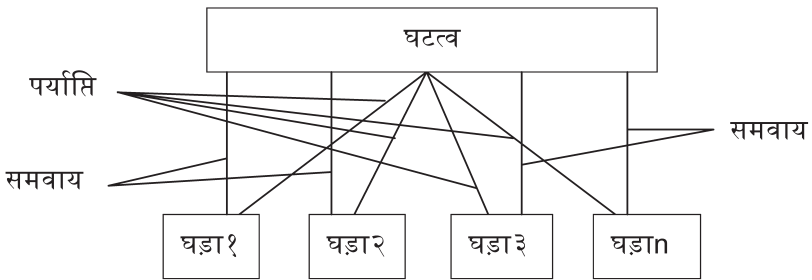
और
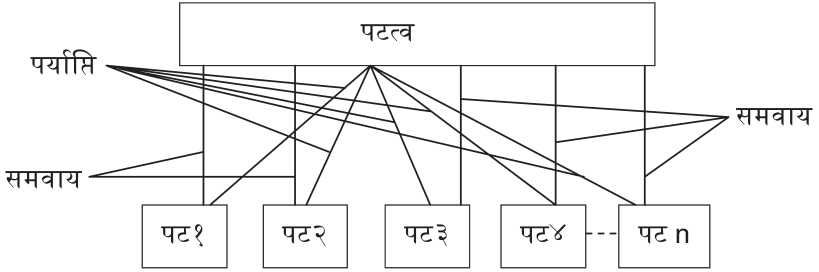
इन दो चित्रों से यह समझने में सरलता होगी कि, संयोग, समवाय और स्वरूप संबंधों के होते हुए भी पर्याप्ति नामक अतिरिक्त सम्बन्ध मानने का क्या महत्त्व है। एक धर्म एक साथ एक ही समय एक से अधिक आधारों में इस पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है।

ग्रन्थ २०

सङ्ख्यादीनामिव वक्ष्यमाणाया अवच्छेदकताया अपि पर्याप्तिसम्बन्धः अङ्गीक्रियते।

हिन्दी अनुवाद

सङ्ख्यादि के समान ही आगे जिसके बारे में बताया गया है उस अवच्छेदकता का भी(उसके आधार से) पर्याप्ति सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ का आशय यह है कि अवच्छेदकता अपने एकाधिक आधारों में एक साथ एक समय पर पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है। पर्याप्ति सम्बन्ध नव्य न्याय दर्शन में इसीलिए माना गया है कि कोई एक धर्म एकसाथ, एक समय पर एकाधिक आधारों में रहता है यह बात समझी जा सके। वह धर्म उसके एकाधिक आधारों में से एक एक आधार व्यक्ति में रहता ही है परन्तु एकाधिक आधारों में एकसाथ रहने के लिए समवाय, संयोग अथवा स्वरूप सम्बन्ध से काम नहीं बनेगा। इसलिए एक विशेष सम्बन्ध माना गया— पर्याप्ति। इस ग्रन्थ में आए हुए उदाहरण को अर्थात् अवच्छेदकता को देखा जाए तो अवच्छेदकता हर एक अवच्छेदक में स्वरूप

सम्बन्ध से रहती है और सभी अवच्छेदकों में एक साथ 'पर्याप्ति' सम्बन्ध से रहती है। इसे समझने के लिए एक चित्र बनाते हैं—
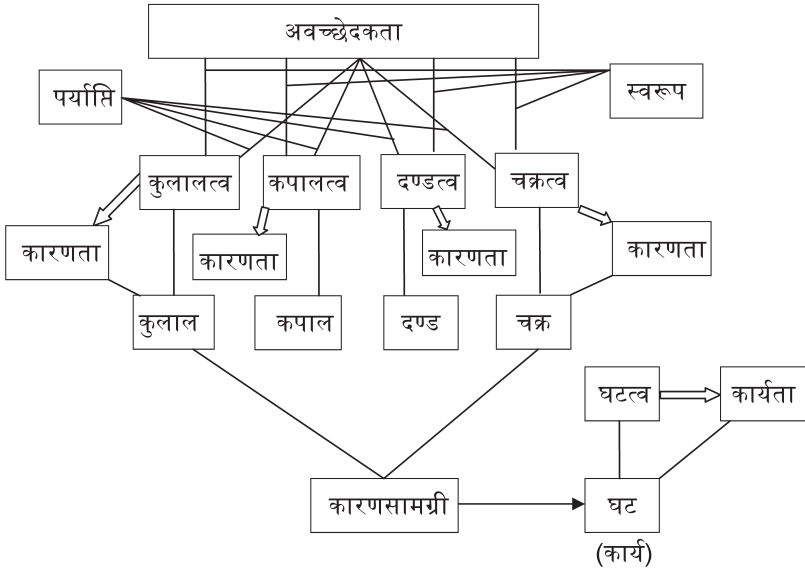
इस चित्र में एक कार्य दर्शाया गया है और वह है घड़ा। कोई भी कार्य उत्पन्न होने के लिए उससे पहले उसके सारे कारण उपस्थित हो यह आवश्यक है। ये सारे कारण मिलकर उस कार्य को उत्पन्न करते हैं। घड़ा उत्पन्न होने से पहले कुलाल, मिट्टी, पानी, चक्र, दण्ड इन सब कारणों का होना आवश्यक है। हर एक कारण में कारणता है जो कि उस कारण के समवेत धर्म से अवच्छिन्न(नियमित) है। इस तरह जितने कारण हैं उन सब में रहने वाली कारणता को अवच्छिन्न करने के लिए एक एक अवच्छेदक है। हर एक अवच्छेदक में अवच्छेदकता धर्म है ही और वही धर्म उन सब अवच्छेदकों में एक साथ एक समय पर भी है। एक एक अवच्छेदक में अवच्छेदकता स्वरूप सम्बन्ध से और सभी अवच्छेदकों में एक साथ पर्याप्ति सम्बन्ध से रहती है।

इसी प्रकार यह बात स्पष्ट हुई कि जब भी कोई एक धर्म एक से अधिक आश्रयों में रहता है ऐसी वस्तुस्थिति हो तब तब पर्याप्ति सम्बन्ध की सहायता से इसको समझा जा सकता है।

ग्रन्थ २१

विषयता विषयिता चेति अपरौ द्वौ वृत्त्यनियामकौ सम्बन्धौ स्तः। तत्र विषयाः घटपटादयो ज्ञानेच्छादौ विषयितासम्बन्धेन वर्तन्ते। विषयतासम्बन्धेन च ज्ञानेच्छादयो घटपटादौ विषये तिष्ठन्तीति।

हिन्दी अनुवाद

वृत्ति-अनियामक सम्बन्धों में विषयता और विषयिता यह दो और सम्बन्ध हैं। घड़ा, वस्त्र इत्यादि विषय उनके ज्ञान और इच्छा में विषयिता सम्बन्ध से रहते हैं और घट का ज्ञान, उसकी इच्छा इत्यादि घड़ा, वस्त्र इत्यादि विषयों में विषयता सम्बन्ध से रहते हैं।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ को समझने के लिए 'सम्बन्ध' के बारे में जो विभिन्न विधान किए जाते हैं उनकी ओर ध्यान देते हैं। एक उदाहरण लेते हैं— 'क्ष' और 'य' सम्बद्ध हैं। अब इस वस्तुस्थिति, कि 'क्ष' और 'य' सम्बद्ध हैं, को नीचे दिए गए विविध प्रकारों से कहा जा सकता है—

(१) 'क्ष' और 'य' सम्बद्ध हैं,

(२) 'क्ष' और 'य' में सम्बन्ध है,

(३) 'क्ष' 'य' से सम्बद्ध है, और

(४) 'य' 'क्ष' से सम्बद्ध है।

इनमें से पहले दो, सम्बन्ध के बारे में किए गए, सामान्य विधान हैं और अन्तिम दो विधान विशेष विधान हैं क्योंकि वह कौन किससे सम्बद्ध है यह बता कर सम्बन्ध की दिशा बताते हैं। तीसरा विधान बताता है कि सम्बन्ध की दिशा 'य' की ओर है और चौथे विधान में सम्बन्ध की दिशा 'क्ष' की ओर है ऐसा कहा गया है।

इन वाक्यों को सही तरीके से (असन्दिग्ध भाव से) समझने के लिए हमारे नव्यन्याय दर्शन ने 'क्ष' और 'य' इन दो सम्बन्धियों को विशिष्ट नाम दिए हैं। सम्बन्ध का आरम्भ जिस सम्बन्धि से होता है उसे प्रतियोगी कहा गया है और सम्बन्ध का

अन्त है अर्थात् सम्बन्ध की दिशा जिस ओर निर्देश करती है वह होता है अनुयोगी। अन्य शब्दों में कहा जाए तो सम्बन्ध का आरंभ जहाँ से होता है वह है प्रतियोगी और उस सम्बन्ध का आधार है अनुयोगी। अर्थात् यदि 'क्ष' 'य' से सम्बद्ध है तो 'क्ष' प्रतियोगी है और 'य' है अनुयोगी। इसको स्मरण में रखने के लिए नीचे दिए गए चित्रों से सहायता मिल सकती है—
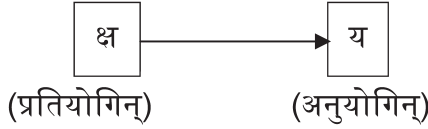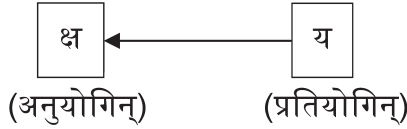
हमारे दर्शन ने एक न्याय(तत्त्व) बनाया है कि अनुयोगी का जो धर्म होता है उसे सम्बन्ध माना जाए (अनुयोगिनिष्ठः धर्मः सम्बन्धः)। उदाहरण लेकर इस बात को समझते हैं। (ऊपर दर्शाए गए प्रथम चित्र में) यदि 'क्ष' पिता है और 'य' पुत्र है तो पिता पुत्र से पुत्रत्व सम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा कहा जाएगा। यह इसलिए कि, इस सम्बन्ध का आरम्भबिन्दु 'पिता' हैं और इस सम्बन्ध की समाप्ति पुत्र में हो रही है अर्थात् इस सम्बन्ध का आधार पुत्र है। इसलिए 'पुत्र' को 'अनुयोगी' संज्ञा मिली और 'पिता' को 'प्रतियोगी' कहा गया। अनुयोगी बने पुत्र में जो 'पुत्रत्व' धर्म है उसे इन दोनों के बीच का सम्बन्ध अर्थात् पिता का पुत्र से सम्बन्ध कहा गया है (पिता पुत्रे पुत्रत्वसम्बन्धेन अन्वेति)।
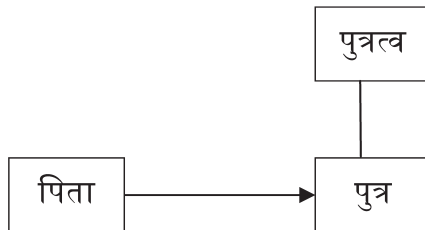
पुत्र पिता से पितृत्व सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। यह इसलिए कि अब सम्बन्ध पुत्र से शुरु होकर उसकी दिशा पिता की ओर है। इस तरह पिता को 'अनुयोगी' संज्ञा मिली और पुत्र को 'प्रतियोगी'। क्योंकि पुत्र से सम्बन्ध का आरंभ हुआ है। अनुयोगी पिता में जो धर्म है वह 'पितृत्व' उन दोनों के बीच का सम्बन्ध है।
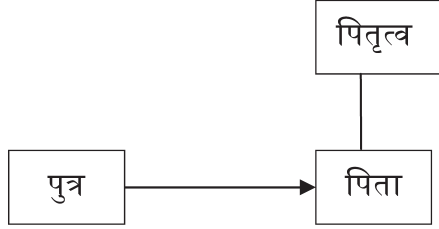
'सम्बन्ध' को स-प्रतियोगिक पदार्थ कहा जाता है। 'स-प्रतियोगिक' का अर्थ है 'जिसका प्रतियोगी है'। इस तरह और दो पदार्थ हैं जिन्हे स-प्रतियोगिक कहा जाता है। इस बात की चर्चा लेखक ने बाद में की है। यहाँ हम केवल सम्बन्ध की स-प्रतियोगिक पदार्थ की दृष्टि से चर्चा कर रहे हैं।

ध्यान में रखने योग्य मुद्दा यह है कि प्रतियोगी का अनुयोगी से जो सम्बन्ध होता है वह अनुयोगिनिष्ठ जो धर्म हो वही होता है। इसे ध्यान में रखते ही यह समझना आसान होगा कि 'ज्ञान का विषय' 'ज्ञान' से और 'ज्ञान' 'ज्ञान के विषय' से कैसे सम्बद्ध होते हैं। हम जब 'ज्ञान' की बात करते हैं, हमें एक बात ध्यान में रखनी है कि हमारे नव्यन्याय दर्शन में 'ज्ञान' 'सविषयक' पदार्थ है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान कभी भी विषय के बिना नहीं हो सकता है। अगर ज्ञान है अर्थात् किसी व्यक्ति को ज्ञान है तो वह किसी वस्तु का ही होता है और वह वस्तु ही उस ज्ञान का विषय कहलाती है। इसी प्रकार इच्छा, कृति (अर्थात् प्रवृत्ति) राग (आसक्ति) और द्वेष भी सविषयक पदार्थ कहलाते हैं। इन सभी पदार्थों को 'विषय' की अपेक्षा होती है। अर्थात् ये सारे विषय के बिना हो ही नहीं सकते। चूँकि इनके विषय होते हैं इन्हें 'विषयिन्' (यह 'सविषयक' का ही दूसरा नाम है) कहा जाता है। इसलिए इन जोड़ियों के बीच, अर्थात् ज्ञान और उसका विषय, इच्छा और उसका विषय आदि में होने वाला सामान्य सम्बन्ध होता है विषय-विषयि-भाव। परन्तु जब इस सम्बन्ध की दिशा बता कर इसे विशिष्ट सम्बन्ध या सम्बन्ध-विशेष बनाया

जाता है, जैसे ज्ञान उसके विषय से सम्बद्ध है अथवा विषय उसके ज्ञान से सम्बद्ध है, तब पहले हमने जिसकी चर्चा की वही न्याय(तत्त्व) अर्थात् 'अनुयोगिनिष्ठः धर्मः सम्बन्धः' लागू होता है क्योंकि ऐसे समय पर अनुयोगी कौन है इस बात का ज्ञान होता है। इस प्रकार यदि ज्ञान विषय से सम्बद्ध है तो वह 'विषयता' सम्बन्ध से सम्बद्ध है और यदि विषय ज्ञान से अर्थात् विषयिन् से सम्बद्ध है तो दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है वह होता है 'विषयिता'। इन बातों को याद रखने में नीचे दिये गए चित्र सहायभूत होंगे——
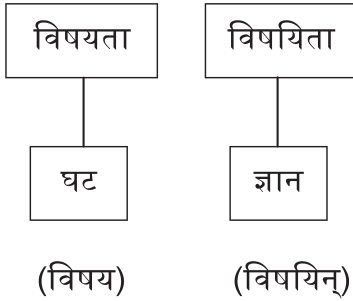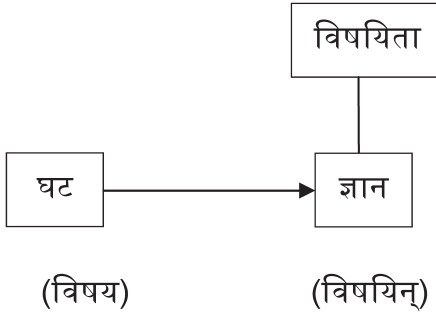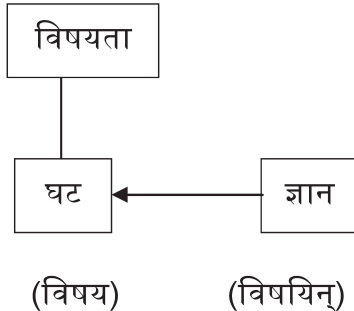
ग्रन्थ २२

सम्बन्धो यद्यपि उभयनिष्ठः, यथा कुण्डबदरादयोः सम्बन्धः कुण्डे बदरे च अस्ति तथापि केनचित् सम्बन्धेन कश्चिदेव कुत्रचिदेव तिष्ठति। यथा संयोगेन सम्बन्धेन कुण्डे एव बदरं तिष्ठति न तु बदरे कुण्डम्। एवं भूतले एव घटः वर्तते न तु घटे भूतलम् इति। अत्र कारणमेतत् : सम्बन्धस्य एकं प्रतियोगि अपरञ्च अनुयोगि भवति। यस्य सम्बन्धस्य यत् प्रतियोगि भवति तेन सम्बन्धेन तदेव तिष्ठति। यच्च यस्य सम्बन्धस्य अनुयोगि भवति, तेन सम्बन्धेन तत्र प्रतियोगि तिष्ठति। यथा कुण्डबदरयोः संयोगे बदरं प्रतियोगि कुण्डञ्चानुयोगीति कुण्डे बदरं वर्तते। धर्म-धर्मिणोः सम्बन्धे सम्बन्धस्य धर्मः प्रतियोगी धर्मी चानुयोगी, अत एव धर्म एव धर्मिणि वर्तते न तु धर्मी धर्मे।

हिन्दी अनुवाद

यद्यपि सम्बन्ध दो वस्तुओं में रहता है, जैसे पात्र और बेर का सम्बन्ध बेर और पात्र दोनों में है तथापि किसी एक सम्बन्ध से कोई विशिष्ट वस्तु किसी दूसरी विशिष्ट वस्तु में ही रहती है। जैसे संयोग सम्बन्ध से बेर ही पात्र में रहता है ना कि पात्र बेर में। इसी प्रकार घड़ा ही भूतल पर (ज़मीन पर) रहता है ना कि भूतल घड़े में। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध का एक प्रतियोगी होता है और एक अनुयोगी होता है। जिस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी होता है, वही उस सम्बन्ध से (अनुयोगी में) रहता है और सम्बन्ध का जो अनुयोगी होता है वहीं उसीमें उस सम्बन्ध से प्रतियोगी रहता है। जैसे बेर और बर्तन में जो संयोग सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध का प्रतियोगी बेर है और अनुयोगी है पात्र। इसलिए बेर(ही) बर्तन में रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म और धर्मी के मध्य होने वाले सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है धर्म और अनुयोगी होता है धर्मी, इसीलिए धर्म ही धर्मी में रहता है, धर्मी धर्म में नहीं।

टिप्पणी

हमने जिस बिन्दु की चर्चा पहले की है, उसीको यहाँ पर बेर और बर्तन का उदाहरण लेकर अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। प्रतियोगी और अनुयोगी की संकल्पनाओं को धर्म और धर्मी की संज्ञा देकर भी समझा जा सकता है। वस्तुतः

इसी बिन्दु की चर्चा से हमारे लेखक ने इस ग्रन्थ आरंभ किया था। समूचे विश्व में जिस किसी वस्तु का अस्तित्व है वह (कुछ गिने चुने अपवादों को छोड़) कहीं ना कहीं अर्थात् किसी न किसी आधार पर स्थित है। जो भी वस्तु कहीं पर स्थित है उसको एक संज्ञा से जाना गया और वह संज्ञा है : धर्म। अब इस धर्म को ही एक और नाम दिया गया : प्रतियोगी। ठीक ऐसे ही धर्म को धारण करने वाला जो धर्मी होता है उसे एक और नाम दिया गया : अनुयोगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि, 'सम्बन्ध का 'प्रतियोगी' हमेशा 'धर्म' ही होता है (जो कि 'आधेय' होता है)' और 'सम्बन्ध का 'अनुयोगी' हमेशा 'धर्मी' ही होता है (जो कि उसका आधार होता है)'। इस सन्दर्भ में हमने पहले जो चित्र बनाया था उसे फिर से ऐसे बना सकते हैं—
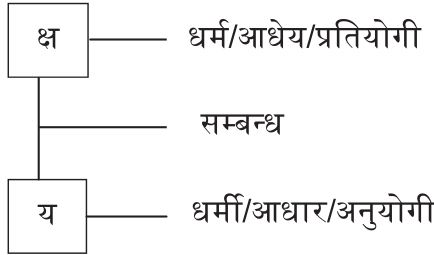
इन बिन्दुओं को समझने के बाद इस ग्रन्थ में लेखक ने जो एक विधान किया है, 'केनचित् सम्बन्धेन कश्चिदेव कुत्रचिदेव तिष्ठति' इसको समझ लेते हैं। हमारे दर्शन में जिस संसर्गमर्यादा के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है उसे हमारे लेखक ने केवल एक वाक्य में सुस्पष्ट किया है। नव्यन्याय दर्शन का एक अभ्युपगम सिद्धान्त है कि सभी वृत्तिनियामक सम्बन्धों में प्रतियोगी और अनुयोगी सुनिश्चित अर्थात् पहले से निश्चित होते हैं। लेखक कहते हैं : बेर और पात्र में संयोग सम्बन्ध है परन्तु इस सम्बन्ध से बेर ही पात्र में रहता है। इसके विपरीत नहीं होता (अर्थात् पात्र बेर में नहीं रहता) है। दूसरा उदाहरण है घड़ा और भूमि का। इन दोनों के मध्य के संयोग का प्रतियोगी हमेशा घड़ा ही होता है ना कि भूमि। भूमि है अनुयोगी या आधार। इसी बात को लेखक ने धर्म-धर्मी संज्ञाओं को लेकर स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है 'धर्म एव धर्मिणि वर्तते न तु धर्मी धर्मे'। धर्म और धर्मियों के बीच के सम्बन्ध का प्रतियोगी धर्म ही होता है और अनुयोगी धर्मी ही होता है। अब यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हुई कि 'धर्म' ही 'धर्मी' में रहता है, इसके विपरीत हो ही नहीं सकता है।

इसीको संसर्ग-मर्यादा अर्थात् सम्बन्ध की मौलिक मर्यादा (सीमा) का नाम दिया गया है।

ग्रन्थ २३

यच्च यत्र वर्तते तत्तस्य आधेयम् आश्रितं तद्वृत्ति इति चोच्यते। यत्र तु यद्वर्तते तत्तस्य अधिकरणम् आधार आश्रय इति चोच्यते। यथा कुण्डे बदरं वर्तते गृहे पटो वर्तत इति। बदरं पटश्च आधेयं कुण्डं गृहञ्च आधार इति। यच्च यस्य आधेयं तस्मिन् तन्निरूपिता वृत्तिता तिष्ठति। एवं यच्च यस्याधिकरणं तस्मिन् तन्निरूपिता अधिकरणता वर्तते। यथा पूर्वोक्तयोरुदाहरणयोः कुण्डनिरूपिता वृत्तिता बदरे गृहनिरूपिता आधेयता च पटे वर्तते। एकस्य वृत्तितायाम् अपरस्य अधिकरणता अवश्यम्भाविनी।

हिन्दी अनुवाद

जो कोई वस्तु कहीं पर रहती है उसे 'आधेय' या 'आश्रित' या फिर 'वहाँ पर स्थित' कहा जाता है और जहाँ पर कोई वस्तु रहती है उसे 'आधार' 'आश्रय' या फिर 'अधिकरण' कहा जाता है। जैसे 'पात्र में बेर है' अथवा 'घर में वस्त्र है'। (इन दो उदाहरणों में) बेर और वस्त्र आधेय हैं और पात्र और घर अनुक्रम से (बेर और वस्त्र के) आधार हैं। जो (कोई वस्तु) किसी आधार में स्थित है, अर्थात् आधेय है उस(आधेय) में उस आधार से निरूपित (अर्थात् वर्णित) आधेयता होती है और जो किसी आधेय का आधार होता है उसमें (आधार में) उस आधेय द्वारा निरूपित आधारता होती है। जैसे ऊपर बताए गए दो उदाहरणों में 'बेर' में 'पात्र' द्वारा निरूपित 'आधेयता' है और 'वस्त्र' में 'घर' द्वारा निरूपित 'आधेयता' है। जब किसी वस्तु में 'आधेयता' होती है तब किसी दूसरी वस्तु में आधारता हो यह आवश्यक है।

टिप्पणी

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'निरूप्य-निरूपक-भाव' नामक सम्बन्ध से हमारा परिचय कराया गया है। यहाँ पर ध्यान में रखने योग्य बिन्दु यह है कि 'आधार' और 'आधेय' यह जोड़ी संज्ञाएँ हैं। इसे ऐसे समझते हैं, यदि कोई वस्तु आधार है तो वह

किसी दूसरी वस्तु का आधार है अर्थात् किसी आधेय के कारण ही वह वस्तु आधार कहलाती है। दूसरे शब्दों में आधार और आधेय दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं। दोनों एक दूसरे का वर्णन करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कोई एक वस्तु आधार है क्योंकि दूसरी कोई वस्तु उस पर आश्रित है और कोई वस्तु आधेय है क्योंकि उसका कोई (दूसरी वस्तु) आधार है। लेखक ने दिए हुए उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है। वह दो उदाहरण हैं 'पात्र में बेर है' और 'घर में वस्त्र है'। चूँकि 'बेर' 'पात्र' में है इसलिए उसे आधेय कहा जाता है और 'पात्र' उसका आधार है। चूँकि 'वस्त्र' 'घर' में है उसे आधेय कहा गया और 'घर' उसका आधार हुआ। दूसरे शब्दों में यदि 'पात्र' में 'बेर' नहीं है, पात्र खाली है क्योंकि उसमें कुछ नहीं है तब उसे कोई भी आधार नहीं कहता है। वह आधार तभी बनता है जब उसमें कुछ हो, अर्थात् उसका कोई आधेय हो। इस बिन्दु को इस तरह ध्यान में रखते हैं— यदि 'क्ष' 'य' में अथवा 'य' पर रहता है जैसा कि

इस चित्र में दर्शाया गया है, तब 'क्ष' में 'य' द्वारा निरूपित 'आधेयता' होती है। ठीक इसी तरह यदि 'य' 'क्ष' का आधार है तब 'य' में 'क्ष' द्वारा निरूपित 'आधारता' होती है। इसलिए जब भी कोई वस्तु 'आधार' होती है तब उसका कुछ 'आधेय' होना चाहिए जिससे उसमें स्थित आधारता निरूपित (अर्थात् उपवर्णित) होती है। सीधे शब्दों में, कोई वस्तु आधार होती है क्योंकि उसपर कोई अन्य वस्तु आश्रित होती है। आइए, इन बिन्दुओं को ध्यान में रखने के लिए हम कुछ चित्र बनाते हैं—
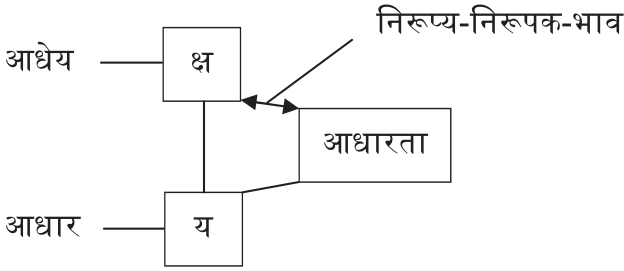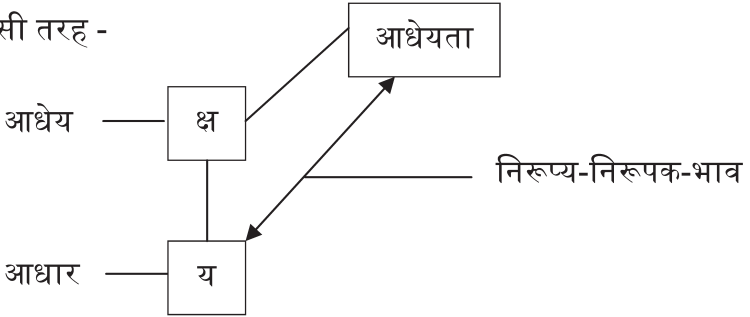
यदि हम लेखक ने दिये हुए उदाहरणों के चित्र बनाते हैं तो वे कुछ ऐसे बनेंगे—

उदा.१)
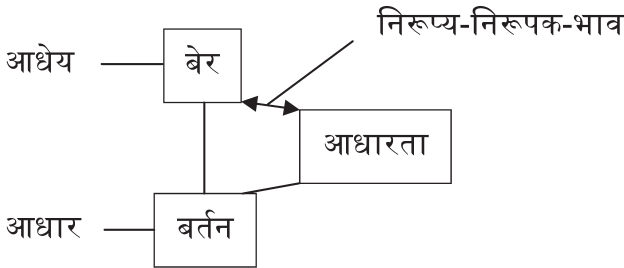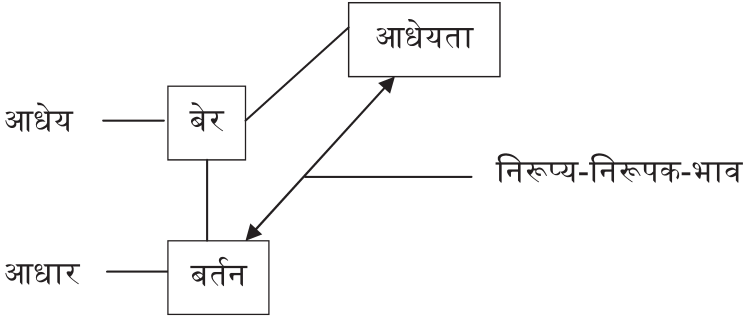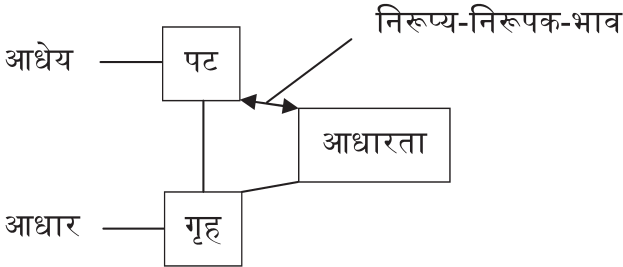
इसी तरह -
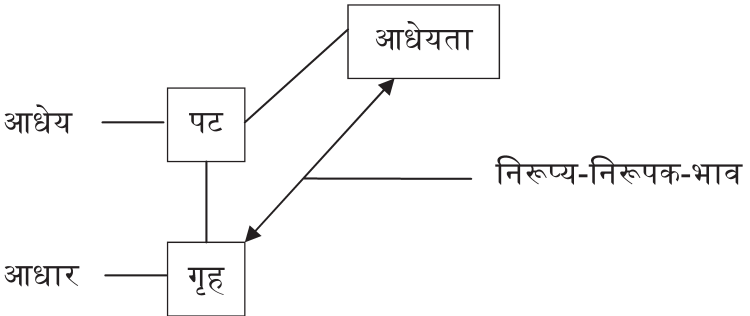
इस सन्दर्भ में हम कुछ बिन्दुओं को ध्यान में रखेंगे—

(१) पात्र खाली भी हो तो भी पात्र होता है परन्तु वह जब खाली होता है तब वह आधार नहीं होता है। उसे 'आधार' तभी कहते हैं जब उसमें कुछ रखा होता है अर्थात् उसका कोई आधेय होता है। इस तरह कुण्डत्व (अर्थात् पात्रत्व)

और आधारता में जो भिन्नता है वह समझ में आती है। 'कुण्डत्व' (अर्थात् पात्रत्व) 'कुण्ड' का (अर्थात् पात्र का) समवेत धर्म है जिसके कारण उसे 'कुण्ड' अर्थात् 'पात्र' यह नाम मिला है। परन्तु 'आधारता' केवल एक नैमित्तिक धर्म है जो कुण्ड में तभी आता है जब कुण्ड में कुछ रखा गया हो अर्थात् कुण्ड का कोई आधेय हो। इस तरह 'आधारता' धर्म ऐसा है जो 'आधेयता' पर निर्भर होता है। दूसरे शब्दों में 'आधारता' का कारण 'आधेयता' है।

(२) आधार और आधेय के मध्य अथवा आधारता और आधेयता के मध्य जो सम्बन्ध होता है उसका नाम है— निरूप्य-निरूपक-भाव। वह इसलिए क्योंकि इनमें से एक दूसरे का वर्णन करता है (निरूपक होता है) अर्थात् दूसरा पहले द्वारा वर्णित (अर्थात् निरूपित) होता है तथा दूसरा पहले का वर्णन करता है।

(३) चूँकि यह निरूप्य-निरूपक-भाव उन दो वस्तुओं में होता है जो एक दूसरे का (परस्पर का) वर्णन करती हैं (अर्थात् इनमें कोई भी एक निरूप्य (वर्णित) हो सकता है और कोई भी एक निरूपक) इसलिए हमारे चित्रों में सम्बन्ध दर्शाने वाली रेखा में दोनों दिशाओं में बाण का अग्र दिखाया गया है।

(४) आधार और आधेय की ही तरह और भी कई जोड़ी-संज्ञाएँ हैं, जैसे, विषय और विषयी; कार्य और कारण; प्रतियोगी और अनुयोगी; धर्म और धर्मी इत्यादि। इन जोड़ी-संज्ञाओं के विषय में भी वह सारी बातें लागू होती हैं जिनकी चर्चा हमने आधार और आधेय को लेकर की है। यह इसलिए कि ये सारे जोड़ी-शब्द हैं और इसके कारण इनको परस्पर-आकाङ्क्षा रहती है। यह सारे धर्म जैसे आधारता इत्यादि नैमित्तिक या प्रासङ्गिक हैं, समवेत नहीं।

(५) एक ही धर्मी में रहने वाले समवेत धर्म और प्रासङ्गिक धर्म के बीच एक विशेष सम्बन्ध होता है जिसे कि नव्यन्याय भाषा की नींव का पत्थर कहा जा सकता है। इसकी चर्चा लेखक ने थोड़ी बाद में की है।

ग्रन्थ २४

एवञ्च एकस्य अधिकरणतायाम् अपरस्य वृत्तिता नियता। अत एव वृत्तिताधिकरणतयोः परस्परनियतसापेक्षतया वृत्तिताधिकरणतयोश्च

परस्परं निरूप्य-निरूपक-भावोऽस्ति। वृत्तिता-निरूपिता अधिकरणता अधिकरणतानिरूपिता च वृत्तितेति। ततश्च 'कुण्डे बदरम्' इति वाक्यस्य 'कुण्ड-निरूपित-वृत्तितावद् बदरम्' किंवा 'कुण्डनिष्ठ-अधिकरणता-निरूपित-आधेयतावद् बदरम्' इत्यर्थः प्रतीयते। एवं, 'बदरवत् कुण्डम्' इत्यस्य प्रयोगस्य 'कुण्डं बदरनिरूपित-अधिकरणतावत्' इति किं वा 'बदरनिष्ठ-वृत्तिता-निरूपित-अधिकरणतावत्' इत्यर्थः पर्यवसीयते।

हिन्दी अनुवाद

इसी तरह एक वस्तु में अधिकरणता (अर्थात् आधारता) होने से दूसरी (वस्तु) में वृत्तिता (अर्थात् आधेयता) अवश्य होती है। इसीलिए, अर्थात् चूँकि वृत्तिता और अधिकरणता नियमित रूप से (सदा) परस्पर-सापेक्ष होती हैं, उन दोनों में निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध होता है। इसके फलस्वरूप 'कुण्डे बदरम्' (अर्थात् पात्र में बेर है) इस वाक्य का अर्थ, 'कुण्ड-निरूपित-वृत्तितावद् बदरम्' (अर्थात् पात्र से निरूपित या वर्णित वृत्तिता वाला बेर है) अथवा 'कुण्डनिष्ठ-अधिकरणता-निरूपित-आधेयतावद् बदरम्' (अर्थात् पात्र में स्थित अधिकरणता से वर्णित आधेयता वाला बेर) ऐसा प्रतीत होता है। और 'बदरवत् कुण्डम्' (अर्थात् बेर जिसमें है ऐसा पात्र) इस वाक्य का अर्थ होगा— 'कुण्डं बदरनिरूपित-अधिकरणतावत्' (अर्थात् बेर से वर्णित अधिकरणता वाला पात्र है) अथवा 'कुण्डं बदरनिष्ठ-वृत्तिता-निरूपित-अधिकरणतावत्' (अर्थात् बेर में स्थित वृत्तिता अर्थात् आधेयता से वर्णित अधिकरणता वाला पात्र है)।

टिप्पणी

निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् अब एक उदाहरण लेकर लेखक ने उसे और स्पष्ट किया है। एक उदाहरण है, 'पात्र में बेर है' और दूसरा उदाहरण है, 'पात्र बेर वाला (अर्थात् बेरविशिष्ट) है'। लेखक ने स्पष्ट किया है कि ये और इस प्रकार के वाक्यों को दो प्रकारों से समझा जा सकता है। पहला प्रकार यह कि, 'बेर में जो आधेयता है वह पात्र से निरूपित है' और दूसरा प्रकार वस्तुतः इस वाक्य से होने वाले समूचे शाब्दबोध को दर्शाता है और वह है, बेर में स्थित आधेयता, पात्र में स्थित आधारता से निरूपित है।

इसे इस तरह समझते हैं, निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध ऐसी दो वस्तुओं में होता है जो जोड़ी-संज्ञाओं से जानी जाती हैं जैसे आधार-आधेय प्रतियोगिन्-अनुयोगिन् इत्यादि। इसे सीधे शब्दों में कह सकते हैं कि किसी वस्तु को 'आधार' तभी कहा जाता है जब दूसरी कोई वस्तु उसकी आधेय हो, उसपर आश्रित हो; किसी वस्तु को प्रतियोगी तभी कहा जाता है जब उसका कोई अनुयोगी हो। दूसरे शब्दों में कोई वस्तु तब तक आधार नहीं बन सकती जब तक उसमें कुछ आधेय ना हो और कोई वस्तु तब तक आधेय नहीं कहलाती है जब तक उसका कोई आधार ना हो। इसे ध्यान में रखने के लिए हम एक चित्र बनाते हैं—
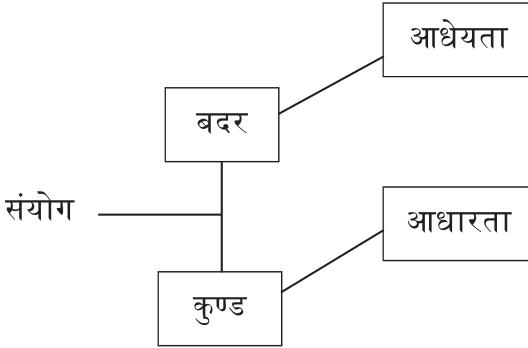
नव्यन्याय की जो पद्धति है कि 'प्रथम वस्तु के धर्म को जान कर उसके द्वारा धर्मी को अर्थात् वस्तु को जानना' उससे हम भली भाँति परिचित हैं। इसके अनुसार जब किसी वस्तु में आधारता का ज्ञान होता है तब (तभी) उसको 'आधार' कहा जाता है। हम अगर इसका और विश्लेषण करते हैं तो हमे यह स्पष्ट रूप से समझ में आएगा कि, जो निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है वह इन दो धर्मों के बीच होता है जो उन दो वस्तुओं में होते हैं जैसे एक वस्तु में होने वाली आधारता दूसरी वस्तु में स्थित आधेयता का बखान करती है तथा एक वस्तु में स्थित आधेयता भी दूसरी वस्तु में होने वाली आधारता का वर्णन करती है। यही नीचे चित्र में दिखाया गया है—
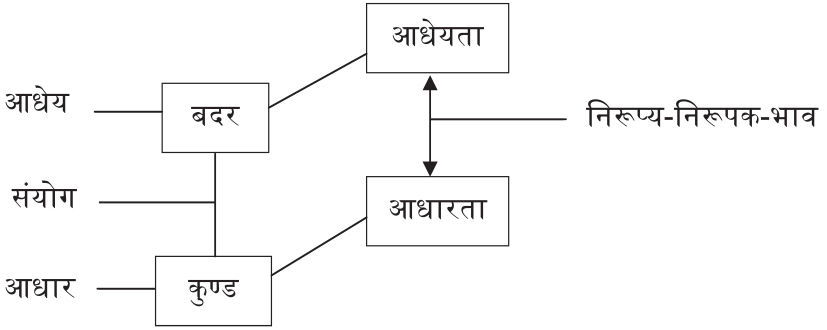
अब इसी वस्तुस्थिति को यदि किञ्चित् संक्षिप्त रूप से कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि एक वस्तु में स्थित आधेयता (किसी) आधार से वर्णित है अथवा एक वस्तु में स्थित आधारता (किसी) आधेय से वर्णित है। इन दो विधानों के चित्र कुछ ऐसे बनेंगे—

१)
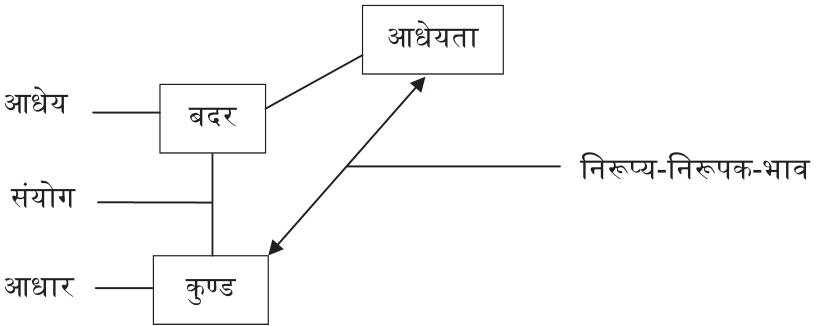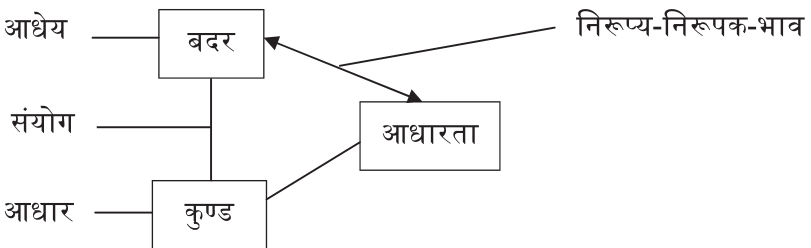
इस तरह पहले चित्र में पात्र बेर की आधेयता का वर्णन करता है और दूसरे चित्र में बेर पात्र की आधारता का वर्णन करता है। ये दो प्रकार हैं (१) 'कुण्डे बदरम्' अथवा (२) 'कुण्डं बदरवत्' इन दो वाक्यों का अर्थ संक्षेप में समझने के लिए और इन दो वाक्यों का अर्थ सम्पूर्ण रूप से कुछ इस प्रकार होगा— बेर में स्थित आधेयता पात्र में स्थित आधारता से वर्णित है और पात्र में स्थित आधारता बेर में स्थित आधेयता से वर्णित है।

ग्रन्थ २५

सम्बन्धवद् अभावस्यापि एकं प्रतियोगि अपरञ्च अनुयोगी अस्ति। यः अभावः यस्य विरोधी प्रतिपक्षः यश्च अभावो यस्य, घटस्य अभावः पटस्य अभावः इत्यादिरीत्या यत्सम्बन्धितया अभावः प्रतीयते, तत् तस्य अभावस्य प्रतियोगी भवति। यथा यत्र घटाभावोऽस्ति तत्र घटो नैव तिष्ठतीति घटाभावो घटस्य विरोधी। एवमयम् अभावो घटस्येति घटाभावस्य घटः प्रतियोगी, रूपाभावस्य रूपं प्रतियोगि। यत्र अभावो वर्तते तद् अभावस्य अनुयोगि भवति। यथा वायुः रूपाभावस्य अनुयोगी। घटादिः जडपदार्थः ज्ञानाभावस्य। प्रतियोगिनि प्रतियोगिता अनुयोगिनि च अनुयोगिता वर्तते।

हिन्दी अनुवाद

सम्बन्ध की तरह अभाव का भी एक प्रतियोगी तथा एक अनुयोगी होता है। जो अभाव जिसका विरोधी या प्रतिपक्ष होता है, जो जिसका अभाव होता है जैसे घड़े का अभाव, वस्त्र का अभाव इस तरह जिसके सम्बन्ध से अभाव का ज्ञान होता है वह उस अभाव का प्रतियोगी कहलाता है। जैसे जिस स्थान पर घट का अभाव होता है उस स्थान पर घट के ना होने से घट का अभाव घट का विरोधी है। ऐसे ही चूँकि यह अभाव घट का (अर्थात् घड़े का) है इसलिए इस घटाभाव का प्रतियोगी घट है; रूप (अर्थात् रंग) के अभाव का प्रतियोगी है रूप। अभाव जिस स्थान पर होता है वह (स्थान/आधार) अभाव का अनुयोगी होता है। जैसे वायु (हवा) रूपाभाव का अनुयोगी है। घड़ा इत्यादि जड़ पदार्थ ज्ञानाभाव के अनुयोगी हैं (अर्थात् घड़ा इ. वस्तुओं में ज्ञान का अभाव होता है)। प्रतियोगी में प्रतियोगिता

होती है और अनुयोगी में अनुयोगिता होती है।

टिप्पणी

लेखक ने सम्बन्ध के विषय में यह बात पहले ही स्पष्ट की है कि जिन दो सम्बन्धियों में सम्बन्ध होता है उन दोनों के, 'किसका सम्बन्ध किससे है' इस ज्ञान के आधार पर दो नाम होते हैं— प्रतियोगी और अनुयोगी। जैसे अगर 'क्ष' का 'य' से सम्बन्ध है तो 'क्ष' इस सम्बन्ध का प्रतियोगी है तथा 'य' इस सम्बन्ध का अनुयोगी है।

इस बिन्दु को इस तरह ध्यान में रखते हैं— सम्बन्ध के विषय में दो प्रश्न होते हैं—

(१) किसका सम्बन्ध है?

और

(२) किससे सम्बन्ध है?

इनमें से पहले प्रश्न का जो उत्तर होगा वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होगा और दूसरे प्रश्न का जो उत्तर होगा वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होगा। इसलिए ऊपर वाले उदाहरण में 'क्ष' उस सम्बन्ध का प्रतियोगी है और 'य' है उस सम्बन्ध का अनुयोगी। हमने पहले भी देखा है कि इस बात को ध्यान में रखने के लिए एक छोटा सा चित्र पर्याप्त है और वह है—
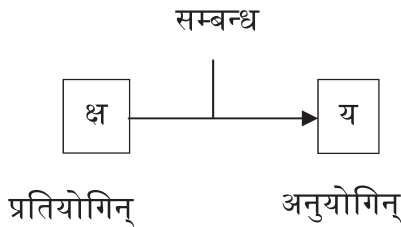
प्रस्तुत ग्रन्थ (ग्रन्थ २५) में लेखक ने एक और सन्दर्भ की चर्चा की है जिस सन्दर्भ में एक वस्तु में प्रतियोगिता धर्म आ जाता है और इसी कारण से दूसरी एक वस्तु में अनुयोगिता धर्म आ जाता है। यह सन्दर्भ है अभाव का। लेखक द्वारा लिया गया उदाहरण है— हवा में रंग का अभाव है। यहाँ दो बाते ध्यान में रखनी हैं (१) यह

अभाव रंग का है और (२) यह अभाव हवा में है। अभाव का प्रतियोगी कौन तथा अनुयोगी कौन इसका निर्णय इन्हीं दो बातों पर निर्भर है।

सम्बन्ध के विषय में हमने जैसे दो प्रश्न ध्यान में रखे थे ठीक उसी प्रकार यहाँ पर भी दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं—(१) अभाव किसका है?

और

(२) अभाव कहाँ पर है?

इनमें से पहले प्रश्न का जो भी उत्तर होगा वह अभाव का प्रतियोगी है और दूसरे प्रश्न का जो उत्तर होगा वह अभाव का अनुयोगी अर्थात् आधार है। इस प्रकार ऊपर वाले उदाहरण में 'रंग' अभाव का प्रतियोगी है और हवा उस अभाव का अनुयोगी है। इस बात को ध्यान में रखने के लिए एक चित्र बनाते हैं—
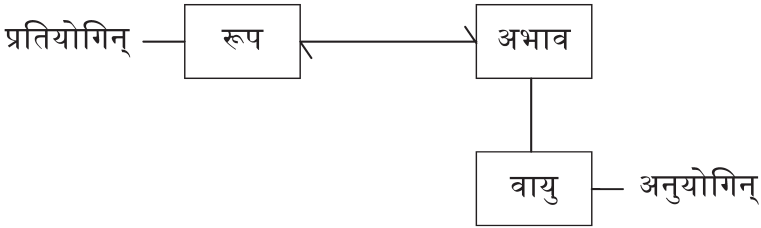
इस अभाव का वर्णन नव्यन्याय की भाषा में इस प्रकार किया जा सकता है— रूपप्रतियोगिक-वायु-अनुयोगिक-अभावः। यह एक अभाव है जिसका प्रतियोगी रूप है और जिसका अनुयोगी है हवा।

अगले ग्रन्थ की ओर बढ़ने से पहले एक बिन्दु को ध्यान में रखते हैं। यह स-प्रतियोगिक पदार्थों के विषय में है। स-प्रतियोगिक-पदार्थ उन वस्तुओं को कहा जाता है जिनका ज्ञान उनके प्रतियोगियों के ज्ञान पर निर्भर होता है। अर्थात् उस पदार्थ का ज्ञान तबतक नहीं होता जबतक उनके प्रतियोगियों का ज्ञान नहीं होता है। हमारे दर्शन में ऐसे तीन पदार्थ माने गए हैं। ये हैं (१) सम्बन्ध (२) अभाव और (३) सादृश्य। हमारे लेखक ने पहले दोनों की चर्चा की है। स-प्रतियोगिक पदार्थों की चर्चा पूरी करने के लिए हम तीसरे सप्रतियोगिक पदार्थ का यहाँ स्मरण करते हैं।

'सादृश्य' के भी दो अङ्ग होते हैं— (१) सादृश्य 'किसका' है और (२) वह

'किससे' है। 'सादृश्य' का पारम्परिक उदाहरण है— 'मुख' चन्द्र के समान है (चन्द्र इव मुखम्)। यह है 'चन्द्र का सादृश्य' जो 'मुख से' है।

सादृश्य का प्रतियोगी क्या है और अनुयोगी क्या है यह जानने के लिए हम पहले की तरह दो प्रश्नों का आधार लेते हैं। ये दो प्रश्न हैं— (१) किस वस्तु का सादृश्य है? और (२) यह सादृश्य किस में (अर्थात् किस वस्तु में) है? पहले ही की तरह पहले प्रश्न का उत्तर हमे सादृश्य का प्रतियोगी देगा और दूसरे प्रश्न का जो उत्तर होगा वही सादृश्य का अनुयोगी है। इसे स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने के लिए एक चित्र बनाते हैं—
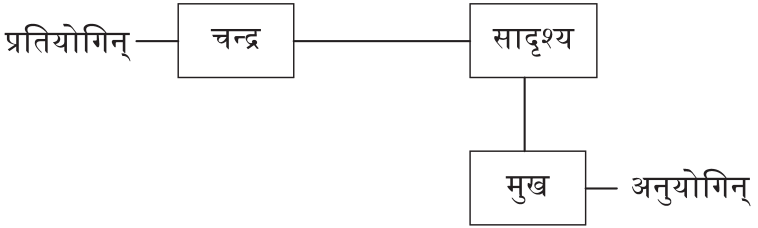
नव्यन्याय की भाषा में इस सादृश्य का वर्णन इस प्रकार से होगा— चन्द्र-प्रतियोगिक-मुख-अनुयोगिक-सादृश्यम्। अर्थात् यह सादृश्य है जिसका प्रतियोगी चन्द्र है और अनुयोगी मुख है।

स-प्रतियोगिक पदार्थों के बारे में एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है जिसका उल्लेख पहले भी आया है और वह बात यह है कि, सप्रतियोगिक पदार्थ का ज्ञान तभी होता है जब उसके प्रतियोगी का ज्ञान होता है। अर्थात् जब उसके प्रतियोगी तथा अनुयोगी का ज्ञान होता है तभी सप्रतियोगिक पदार्थ का ज्ञान सम्पूर्ण होता है। तबतक नहीं।

ग्रन्थ २६

एकत्र एकेन सम्बन्धेन वर्तमानस्यापि सम्बन्धान्तरेण अभावो वर्तते। यथा भूतले संयोगसम्बन्धेन वर्तमानस्यापि घटस्य समवायसम्बन्धेनाभावः। एवम् एकेन रूपेण वर्तमानस्यापि रूपान्तरेण अभावो भवति। यथा

शुक्लपटवति गृहे पटत्वरूपेण सामान्यधर्मेण वर्तमानस्यापि नीलपटत्वरूपेण वा विशेषधर्मेण बहिर्वृत्तित्वरूपेण वा विशिष्टधर्मेण पटघटोभयत्वरूपेण वा उभयत्वपुरस्कारेण अभावो भवति। न हि शुक्लपटस्य विद्यमानत्वेनैव नीलपटस्यापि वृत्तिता भवति। एवं गृहे केवलस्य पटस्य सत्त्वेऽपि घटस्याभावेन पटघटोभयस्यापि अभावोऽस्त्येव एकाभावेन उभयाभावस्य अवश्यंभावित्वात् इत्येवम् अभावस्य सम्बन्धविशेषकृतं धर्मविशेषकृतञ्च वैलक्षण्यं भवति।

हिन्दी अनुवाद

जब कोई वस्तु एक सम्बन्ध से कहीं पर स्थित होती है तब दूसरे सम्बन्ध से उसका (उसी स्थान पर) अभाव होता है। उदाहरण के लिए घड़ा जब भूमि पर संयोग सम्बन्ध से विद्यमान होता है तब भी समवाय सम्बन्ध से उसका वहाँ पर अभाव होता है। ऐसे ही जब कोई वस्तु कहीं पर एक रूप से विद्यमान होती है उसका (वहीं पर) दूसरे रूप से अभाव होता है। जैसे जब घर में सफेद वस्त्र विद्यमान होता है, तब वह वस्त्र के रूप में विद्यमान होने पर भी 'नील वस्त्र' जैसे विशेष रूप से अथवा '(घर के) बाहर विद्यमान वस्त्र' जैसे विशेष रूप से अथवा 'वस्त्र और घड़ा' जैसे उभयत्व से पुरस्कृत रूप से (घर में) विद्यमान नहीं होता है। यह इसलिए कि घर में 'सफेद वस्त्र' के होने से वहाँ 'नीलवस्त्र' का अस्तित्व नहीं होता है। इसी तरह, घर में जब सफेद वस्त्र होता है तब वहाँ घड़े का अभाव होने के कारण वस्त्र और घड़ा दोनों का अभाव होता ही है क्योंकि एक का अभाव होने से दोनों का अभाव (उभयाभाव) अवश्य ही होता है। इस तरह विशेष सम्बन्ध के कारण और विशेष धर्म के कारण अभाव में भिन्नता आती है।

टिप्पणी

लेखक ने यहाँ पर भिन्न भिन्न अभावों की अथवा अभावों में आने वाली भिन्नता की चर्चा की है। यहाँ ऐसे दो कारण बताए गए हैं— (१) सम्बन्ध और (२) धर्म। लेखक ने कहा है कि सम्बन्ध के कारण अभाव में भिन्नता आती है। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि 'क्ष' जब 'य' में किसी एक सम्बन्ध से रहता है, मान लो 'अ' सम्बन्ध से रहता है तब वह (क्ष) उसी 'य' में उसी समय किसी दूसरे सम्बन्ध से मान लो 'ब' सम्बन्ध से नहीं रहता है। दूसरे शब्दों में 'क्ष' किसी दूसरे आधार में मान

लो 'क' में 'ब' सम्बन्ध से रह सकता है। परन्तु यहाँ पर यह बिन्दु महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'क्ष' जब 'य' में 'अ' सम्बन्ध से विद्यमान होता है तभी दूसरे किसी सम्बन्ध से (जैसे 'ब' सम्बन्ध से) वह 'य' में अविद्यमान होता है। इस तरह सम्बन्ध के कारण 'अभाव' में भेद होता है। इस बात को ध्यान में रखने के लिए कुछ चित्र बनाते है—
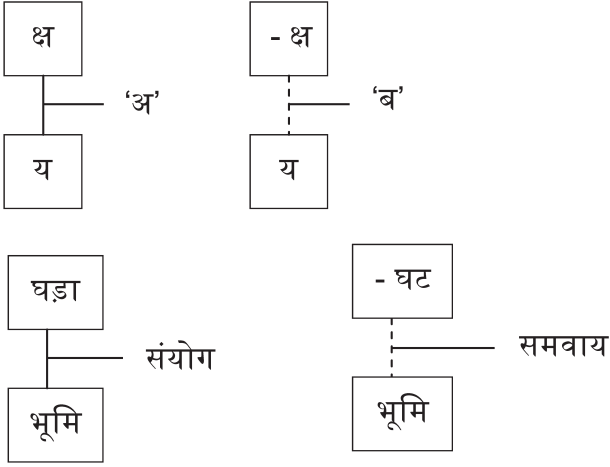
दूसरी बात यह है कि जब 'क्ष' 'क्ष' के रूप में 'य' नामक आधार पर विद्यमान होता है तब वह (१) दूसरे किसी धर्म से विशिष्ट रूप में तथा (२) 'क्ष' और 'क' अर्थात् 'क' के साथ 'क्ष' इन दोनों रूपों में वहाँ विद्यमान नहीं होता है। इस बात को समझाने के लिए लेखक ने उदाहरण लिया है— 'घर में श्वेत वस्त्र है'। घर में जब 'श्वेत वस्त्र' है तब घर में 'नीलवस्त्र' और 'घड़ा और वस्त्र' (अर्थात् घड़े के साथ वस्त्र) का अभाव है। इस बात को ध्यान में रखने के लिए नीचे बनाए गए चित्र सहायक होंगे—
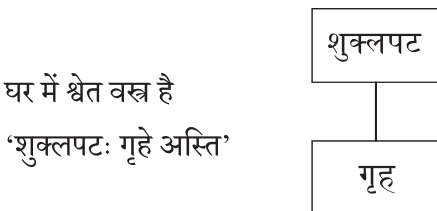
जब वस्तुस्थिति है कि 'घर में सफ़ेद वस्त्र है' तब नीचे दर्शाए गए विधान करना सम्भव है—

१) 'घर में नीला वस्त्र नहीं है'

(नीलपटः गृहे नास्ति)
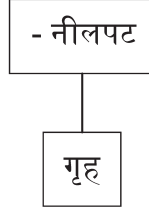
२) 'बाहर रहने वाला वस्त्र घर में नहीं है'

(बहिर्वृत्तित्वविशिष्टपटः गृहे नास्ति)
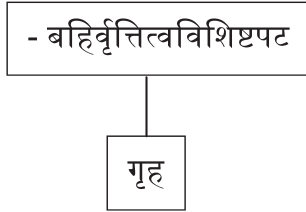
३) 'घड़े के साथ वस्त्र नहीं हैं'

(पटघटोभयं नास्ति)
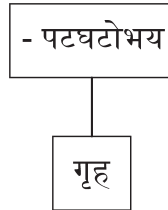
परन्तु 'घर में वस्त्र नहीं है' यह कहना कतई सम्भव नहीं है—
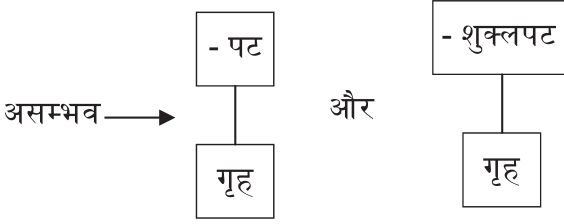
ऊपर कही गई बात को संक्षेप में इस तरह रख सकते हैं—

जब विधान किया जाता है कि 'घर में श्वेत वस्त्र है' तब दो बातों को नकारा नहीं जा सकता—

(१) 'घर में वस्त्र है'

और

(२) 'घर में श्वेत वस्त्र है'।

परन्तु इन बातों को नकारा जा सकता है—

(१) घर में नीले वस्त्र का अस्तित्व

(२) घर में बाहर विद्यमान वस्त्र का होना

और

(३) घर में वस्त्र और घड़ा दोनों का अस्तित्व।

इसलिए हमारे लेखक ने कहा है कि 'प्रतियोगी' के (अर्थात् जिस वस्तु का अभाव हो उसके) धर्मों की विभिन्नता के कारण अभाव भिन्न भिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों मे अभाव की भिन्नता प्रतियोगी की भिन्नता पर निर्भर होती है। अग्रिम ग्रन्थ में इसी बिन्दु की चर्चा है।

ग्रन्थ २७

तच्च अभावस्य वैलक्षण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्यनिबन्धनमिति तदेव उच्यते— अभावस्य प्रतियोगिता केनचित्सम्बन्धेन केनचिद् धर्मेण चावच्छिन्ना भवति। येन सम्बन्धेन येन वा धर्मेण अवच्छिन्ना भवति स सम्बन्धः स च धर्मः तस्याः प्रतियोगिताया अवच्छेदको भवति। यथा, 'भूतले

समवायसम्बन्धेन घटो नास्ति' इत्यादौ घटाभावस्य प्रतियोगिता समवायेन सम्बन्धेन घटत्वेन च धर्मेण अवच्छिन्ना। ततश्च तस्याः प्रतियोगितायाः समवायः सम्बन्धः घटत्वञ्च धर्मः अवच्छेदकः। अत एव समवायेन घटो नास्तीत्यस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकोऽभावो वर्तत इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद

प्रतियोगी में भिन्नता होने से अभाव में भिन्नता आती है। इसलिए कहा जाता है कि अभाव की प्रतियोगिता किसी (एक) सम्बन्ध से तथा किसी (एक) धर्म से अवच्छिन्न (अर्थात् नियमित) होती है। जिस सम्बन्ध से और जिस धर्म से वह (प्रतियोगिता) अवच्छिन्न होती है वह सम्बन्ध और वह धर्म उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे 'भूमि पर समवाय सम्बन्ध से घड़ा नहीं है' इस विधान में घड़े के अभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व धर्म से अवच्छिन्न है। इसलिए 'समवाय सम्बन्ध' तथा 'घटत्व धर्म' उस प्रतियोगिता के अवच्छेदक हैं। इसी कारण 'समवाय से घट नहीं है' इसका अर्थ है— जिसकी प्रतियोगिता 'समवाय सम्बन्ध' से अवच्छिन्न है ऐसा (यह) अभाव है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ पर चर्चा का आरम्भ हम एक प्रश्न से करते हैं। वह प्रश्न है— 'अभाव' क्या है? हमारे दर्शन में इस प्रश्न का उत्तर होगा— 'अभाव' एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यह 'भाव पदार्थ' नहीं अपि तु 'अभाव पदार्थ' है। परन्तु हमारा दर्शन वास्तववादी दर्शन है और इसीलिए 'अभाव पदार्थ' भी 'भाव पदार्थ' की (ही) तरह वस्तु है (अ-वस्तु नहीं) वास्तव है (अलीक नहीं)। 'अभाव पदार्थ' को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में मानने का मुख्य कारण है जब कोई 'भूमि पर घड़ा नहीं है' जैसे वाक्यों का उच्चारण करता है तब उस वाग्व्यवहार की सुसंगति को दर्शाने की आवश्यकता है। इस वाक्य के साथ ही 'भूमि पर घड़े का अभाव है' जैसे वाक्य भी हैं जिनको ठीक से समझने की आवश्यकता है। हो सकता है इस तरह के वाक्यों के कारण ही हमारे दर्शन ने 'अभाव' को एक पदार्थ के रूप में स्वीकार किया हो।

इसपर और थोड़ा विचार करते हैं। हमारे दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है मनुष्य के व्यवहार का कार्य-कारण-भाव स्पष्ट करना। मनुष्य के व्यवहार का बड़ा भारी हिस्सा

होता है उसका वाग्व्यवहार (जो कि मनुष्य का एक अद्वितीय पहलू है)।

नव्यन्याय दर्शन का मानना है कि भाषा और वस्तुस्थिति में एक अटूट सम्बन्ध है। इस मान्यता के अनुसार इस दर्शन का मानना है कि भाषा का हर एक शब्द किसी ना किसी अर्थ का (वस्तु का) वाचक होता है और विश्व में विद्यमान हर वस्तु का कुछ ना कुछ नाम होता है अर्थात् किसी ना किसी शब्द से हर वस्तु का निर्देश हो सकता है। (इस विषय की चर्चा न्यायभाष्यकार वात्सायन ने भी की है। न्यायभाष्य का समय सम्भवतः ईसवीय प्रथम द्वितीय शतक माना गया है।)

नव्यन्याय दर्शन में शब्द का लक्षण है— शक्तं पदम्। 'शक्त' का अर्थ है शक्ति-विशिष्ट (अर्थात् शक्ति से युक्त)। 'शक्ति' शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को कहते हैं। इस तरह शब्द अर्थात् पद भाषा की वह इकाई है जिसका कुछ अर्थ हो। (अर्थात् भाषा की सबसे छोटी अर्थपूर्ण इकाई को 'पद' कहा जाता है)। इस लक्षण को समझने पर आधुनिक भाषा-विज्ञान में किए गए 'पद' के लक्षण का अनायास ही स्मरण होता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान में पद (जिसे morpheme कहा जाता है) का लक्षण है— भाषा की सब से छोटी अर्थपूर्ण इकाई। ये दोनों लक्षण एक जैसे हैं। 'भाषा की सब से छोटी अर्थपूर्ण इकाई' को पद कहने से हमारे दर्शन के अनुसार प्रकृति, विभक्ति-प्रत्यय, धातु और पुरुष-प्रत्यय तथा अन्य प्रत्यय जो किसी ना किसी अर्थ के वाचक हैं उन सब को 'पद' संज्ञा लागू हो यह तर्कसङ्गत है। 'Morpheme' की सङ्कल्पना यही है। इस प्रकार हमारे दर्शन ने किया हुआ 'पद' का लक्षण आधुनिक भाषाविज्ञान के 'morpheme' के लक्षण से पूर्ण रूप से मेल खाता है।

अब हम फिर से 'अभाव' की चर्चा की ओर आते हैं। 'न' 'अ-' 'अन्-' इत्यादि संस्कृत में अभाववाचक 'पद' हैं। इनमें से 'न' एक स्वतन्त्र 'पद' है तथा 'अ-' और 'अन्-' ये बद्ध अर्थात् किसी दूसरे पद के हिस्से के रूप में आते हैं। इनके विषय में एक प्रश्न यह है कि ये सब किस वस्तु की ओर निर्देश करते हैं? सीधे शब्दों में 'इनका अर्थ क्या है?' हमारे दर्शन में 'वस्तु' और 'अर्थ' एक ही हैं। ऊपर उल्लिखित प्रश्न को दूसरी तरह भी रख सकते हैं। एक उदाहरण स्वरूप वाक्य लेते हैं— 'भूमि पर घड़ा नहीं हैं'। इस वाक्य में 'नहीं' का अर्थ क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर नव्यन्याय में ऐसे मिलता है— 'न' अर्थात् नकारात्मक पद के दो मुख्यार्थ (अर्थात् वाच्यार्थ) हैं— (१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव। (इस विषय की विस्तृत चर्चा के लिए कृपया रघुनाथ शिरोमणि का 'नञ्-वाद' देखें।)

अभाव एक स्वतन्त्र पदार्थ है। (इस विषय की पूरी चर्चा के लिए गङ्गेशोपाध्याय लिखित 'तत्त्वचिन्तामणि' का 'अभाववाद' द्रष्टव्य है।)

अब हमारा उदाहरण, 'भूतले घटः न' (अर्थात् 'भूमि पर घड़ा नहीं है') की ओर पुनः आते हैं। इस वाक्य का अर्थ होगा— भूतलनिष्ठ-आधारता-निरूपकः घटाभावः। अब प्रश्न यह है कि 'भूतले घटः न' इस वाक्य से यह अर्थ कैसे प्रतीत होता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमे शाब्दबोध-प्रक्रिया की ओर ध्यान देना होगा। 'शाब्दबोध' का अर्थ है वाक्यार्थ का ज्ञान। यह सुने हुए या पढ़े हुए 'वाक्य' से होता है। हमारे दर्शन के अनुसार इसकी प्रक्रिया के चार सोपान हैं—

श्रोता द्वारा

(१) वाक्य सुना या पढ़ा जाता है।

(२) वाक्य के पदों के अर्थ का स्मरण

(३) तात्पर्य (अर्थात् वक्ता के अभिप्राय) का ज्ञान और

(४) पद के अर्थों का अन्वय अन्वित-पदार्थ ही वाक्यार्थ है। जब श्रोता ऊपर बताई गई प्रक्रिया पूर्ण करता है तब उसे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इसी को 'शाब्दबोध' कहा जाता है। ऊपर बताई गई प्रक्रिया सुचारु रूप से सम्पन्न हो इसलिए एक मौलिक आवश्यकता यह है कि वक्ता तथा श्रोता को उनके संवाद के साधन की भाषा अच्छी तरह अवगत हो।

अब फिर से हमारे वाक्य का रुख़ करते हैं— भूतले घटः न। ऊपर बताई गई प्रक्रिया से इस वाक्य का अर्थ कैसे प्रतीत होता है यह देखते हैं।

सोपान ४. भूतलनिष्ठ-आधारता-निरूपकः घटाभावः। (पदार्थों का अन्वय)

चौथे सोपान में पदार्थों का अन्वय हुआ। अन्वित पदार्थों का ज्ञान ही शाब्दबोध है। दो पदार्थों में जो सम्बन्ध है (अर्थात् अन्वय या संसर्ग है) वह हमें कैसे प्राप्त होता है? अथवा पदार्थों में अन्वय कैसे होता है? इस सन्दर्भ में उठने वाले इन प्रश्नों के उत्तर भिन्न भिन्न दर्शनों ने भिन्न भिन्न प्रकार से दिए हैं। ये उत्तर ही शाब्दबोध के विभिन्न सिद्धान्त कहलाते हैं। हम यहाँ पर हमारे दर्शन की ही चर्चा करते हैं। ऊपर लिया हुआ उदाहरण ही लेते है— भूतले घटः न। इस वाक्य में पाँच 'पद' हैं। (१) भूतल (२) सप्तमी विभक्ति (३) घट (४) प्रथमा विभक्ति और (५) न (अर्थात् अभाववाचक 'पद') (वस्तुतः 'न' के बाद 'प्रथमा विभक्ति' का प्रत्यय है जो पाणिनि-व्याकरण के नियम के अनुसार लुप्त हुआ है। परन्तु चूँकि वह लुप्त है, उसकी चर्चा की आवश्यकता नहीं है।) इस प्रकार वाक्य में पाँच पद हैं जिनके अर्थों का स्मरण श्रोता द्वारा किया जाता है। हमारे दर्शन के अनुसार एक बार जब सभी पदार्थों का स्मरण होता है तब वे एक दूसरे से 'संसर्ग-मर्यादा' से अन्वित होते हैं। 'संसर्ग मर्यादा' का अर्थ है 'सम्बन्ध की सीमा'। अर्थात् किस (वस्तु अर्थात् पदार्थ) का किस (वस्तु अथवा पदार्थ) से किस रूप में अन्वय होगा यह पहले से सुनिश्चित होता है। दूसरे शब्दों में 'पद' के अर्थों की एक निश्चित रचना होती है जिससे सारे पदार्थ अपने आप एक दूसरे से जुड़ जाते हैं— इसके लिए श्रोता को अलग से कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। हमारे लेखक ने इस बिन्दु की ओर पहले एक बार इङ्गित किया था और कहा था— 'केनचित् सम्बन्धेन कश्चिदेव कुत्रचिदेव तिष्ठति'। (द्रष्टव्य— ग्रन्थ२२)

प्रस्तुत ग्रन्थ (अर्थात् ग्रन्थ २७) में लेखक हमें यह समझाना चाहते हैं कि दो अभावों में भिन्नता होने का कारण है उनके प्रतियोगियों का भिन्न होना। हमने पहले ही देखा है कि यदि किसी को अभाव के प्रतियोगी का ज्ञान नहीं हो तो हम कह सकते हैं कि वह (व्यक्ति) अभाव के विषय में कुछ नहीं जानता है। यह इसलिए कि किसी का अभाव के बारे में जो ज्ञान होता है वह पूर्णतः अभाव के प्रतियोगी के ज्ञान पर निर्भर होता है। इसी से यह सुचारु रूप से समझ में आता है कि दो अभावों में भिन्नता होने का कारण है प्रतियोगिता में विद्यमान भिन्नता।

प्रस्तुत ग्रन्थ में और एक बिन्दु पर प्रकाश डाला गया है और वह बिन्दु यह है कि अभाव की प्रतियोगिता एक धर्म से और एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। इसको सुचारु रूप से समझ लेते हैं। पहले हमने कहा था कि एक ही वस्तु में रहने वाले 'समवेत धर्म' तथा 'नैमित्तिक धर्म' के बीच एक विशेष सम्बन्ध होता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध के कारण ही नव्यन्याय की भाषा को दार्शनिक चर्चा का सर्वोत्तम साधन माना गया है। दार्शनिक चर्चा में सन्दिग्धता का होना एक बड़ी समस्या है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो दार्शनिक चर्चा यदि सामान्य (बोलचाल की) भाषा में हो तो वह (चर्चा) पूर्ण रूप से फलदायी न होने की सम्भावना अधिक है क्योंकि सामान्य बोल-चाल की भाषा सन्दिग्धता से मुक्त नहीं होती है। हमारे दर्शन के आरम्भ से ही यह चिन्ता का विषय था। न्याय दर्शन के सब से पहले ग्रन्थ न्यायसूत्र में 'वाद' (अर्थात् दार्शनिक चर्चा) को सब से अधिक अहमियत दी गई है क्योंकि किसी दार्शनिक सङ्कल्पना अथवा तत्त्व के विषय में उठे विवाद को सुलझाने का यह एकमात्र तरीका है। सदियों तक चली तर्कसङ्गत तथा सन्तत विचार-प्रक्रिया से ही नव्यन्याय ने दार्शनिक चर्चा का सन्दिग्धता से मुक्त, सठीक माध्यम विकसित करने का अपना लक्ष्य प्राप्त किया। इसके लिए अलग-अलग सङ्कल्पनाओं का निर्माण हुआ तथा प्रभावशाली तरीक़े से उनका उपयोजन किया गया। इन सङ्कल्पनाओं में सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण है 'अवच्छेदक' की सङ्कल्पना। इसे समझने के लिए किसी भी वस्तु का 'समवेत धर्म' तथा उसमें किसी निमित्त या प्रसङ्ग से उत्पन्न होने वाले 'नैमित्तिक धर्म' के विषय में हमारे ज्ञान को ध्यान में लाते हैं। एक उदाहरण से इसे अच्छी तरह समझने का प्रयास करते हैं। कोई मनुष्य जब पैदा होता है तब उसी मुहूर्त से उसमें 'मनुष्यत्व' होता है। यह 'मनुष्यत्व' उसका 'समवेत धर्म' है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक उस मनुष्य में रहता है। जन्म और मृत्यु के बीच वह मनुष्य 'छात्र' बनेगा, आगे चल कर वह शिक्षक अथवा डॉक्टर अथवा एंजिनिअर अथवा व्यापारी बनेगा। उसके बाद वह पति, पिता, दादा, नाना इत्यादि बनेगा। अर्थात् उसमें छात्रत्व, शिक्षकत्व, पितृत्व इत्यादि धर्म जो कि नैमित्तिक हैं वे उस प्रत्येक निमित्त से आएंगे परन्तु इनसे अलग मनुष्यत्व (या पुरुषत्व भी) उसका समवेत धर्म है। अब इन दो अलग प्रकार के धर्मों में जो भेद है उसे समझते हैं। 'समवेत धर्म' वस्तु का 'नित्य धर्म' होता है। 'नित्य' का अर्थ है जब तक वह वस्तु

नष्ट नहीं होती तब तक यह धर्म उसमें विद्यमान रहता है। 'नैमित्तिक धर्म' वस्तु का 'अनित्य धर्म' है जो वस्तु में किसी निमित्त के कारण आता है और जब वह निमित्त समाप्त होता है तब यह धर्म भी वस्तु में नहीं रहता है।

'समवेत धर्म' उस वस्तु का 'असाधारण धर्म' होता है जो केवल उन वस्तुओं में रहता है जिनका एकही वर्ग (जाति) होता है और 'नैमित्तिक धर्म' भिन्न भिन्न वर्ग वाली भिन्न वस्तुओं का 'साधारण धर्म' होता है। घड़े का उदाहरण लेकर इस बात को समझने का प्रयास करते हैं— 'घट' में (अर्थात् घड़े में) 'घटत्व' होता है जब तक कि 'घट' का अस्तित्व होता है। परन्तु वही 'घट' कभी ज्ञान का 'विषय' होता है; जब उसके कारण की या कारणों की चर्चा होती है तब वही घट 'कार्य' बन जाता है; जब उसके 'कार्य' की चर्चा होती है तब वही 'घट' 'कारण' होता है; उसके अभाव के प्रसङ्ग में वही 'घट' 'प्रतियोगी' बन जाता है। इस तरह 'घटत्व' 'घट' का असाधारण धर्म है जो सभी घटों में होता है तथा 'घट' छोड़ कर अन्य किसी वस्तु में नहीं होता है। परन्तु 'विषयता', 'कार्यता', 'कारणता', 'प्रतियोगिता' इत्यादि धर्म घट, पट, पुस्तक, मेज इ. सभी वस्तुओं में साधारण हैं अर्थात् इन सब वस्तुओं में रह सकते हैं। यह इसलिए क्योंकि ये सभी वस्तुएँ ज्ञान का विषय हो सकती हैं; उनके कारणों के कार्य; उनके कार्यों के कारण; उनके अभाव के प्रतियोगी बन सकती हैं।

हमारी प्रकृत चर्चा की ओर आते हैं। चूँकि कोई भी वस्तु (ज्ञान का) विषय, कार्य, कारण, प्रतियोगी इ. बन सकती है, कोई भी जब विषयता, कार्यता इ. नैमित्तिक धर्मों के विषय में बात करता है तब उसमें सन्दिग्धता होने की सम्भावना रह जाती है। इस सन्दिग्धता के कारण 'ज्ञान' में कमी रह जाएगी और इसके परिणामस्वरूप चर्चा में 'संवाद' नहीं हो पाएगा। 'दार्शनिक वाद' (Dialectics) जो किसी सन्देह, किसी समस्या का समाधान ढूँढने के लिए होता है वह 'वाद' ही हो नहीं पाएगा और उस समस्या का हल नहीं निकलेगा।

इस तरह समूचे विसंवाद को हटाने के लिए और उसके अ-वाञ्छित परिणाम को टालने के लिए हमारे दर्शन ने 'नैमित्तिक धर्मों को' किसी वस्तु में सीमित (अवच्छिन्न) करने की एक तकनीक खोज डाली। इन 'नैमित्तिक धर्मों' को सीमित अर्थात् अवच्छिन्न करने का काम कौन करेगा? इस प्रश्न का समाधान वस्तु में सदा

रहने वाले 'समवेत धर्म' से हो गया! इस बात को एक वाक्य में कहते हैं— वस्तु में विद्यमान रहने वाला समवेत धर्म उस वस्तु में किसी निश्चित निमित्त से आने वाले 'नैमित्तिक धर्म' को उस वस्तु में अवच्छिन्न कर देता है। 'नैमित्तिक धर्म' वस्तु में किसी निमित्त से आने वाले धर्म को कहते है। इस तरह, एक ही वस्तु में रहने वाले 'समवेत धर्म' और 'नैमित्तिक धर्म' के बीच के सम्बन्ध को अवच्छेदक-अवच्छिन्न सम्बन्ध कहते हैं। इस बात को ध्यान में रखने के लिए कुछ सरल चित्र बनाते हैं।

(१) घटः ज्ञानविषयः
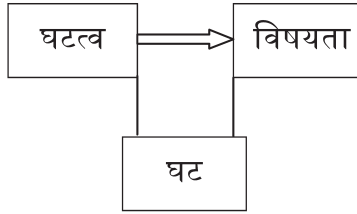
चूँकि 'घट' ज्ञान का 'विषय' है उसमें 'विषयता' है। अब हमे पता है कि कोई भी वस्तु ज्ञान का विषय हो सकती है और इसी कारण 'विषयता' किसी भी वस्तु का धर्म हो सकती है। अब इस विषय में सन्दिग्धता ना हो इसलिए अर्थात् ज्ञान का विषय यहाँ घट ही है, और कुछ नहीं यह बताने के लिए घट में जो 'समवेत धर्म' घटत्व है उसका उपयोग किया गया। 'घटः ज्ञानविषयः' यह वाक्य होने के कारण ही यह सब हुआ।

अब इस तकनीक को जान कर तथा पहले चित्र का पूरा वर्णन करने के बाद हम और कुछ चित्र बनाते हैं। अब हर चित्र का वर्णन करना आवश्यक नहीं है। हम स्वयं ही इन चित्रों को पढ़ सकते हैं।

(२) घटः कार्यम्।
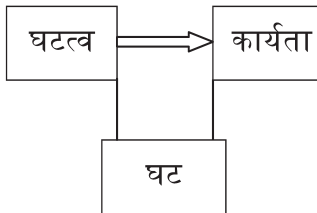
(३) घटः कारणम्।
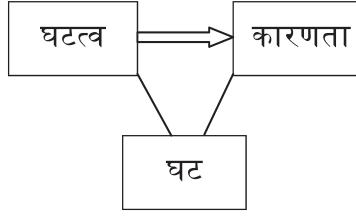
(४) घटाभावः
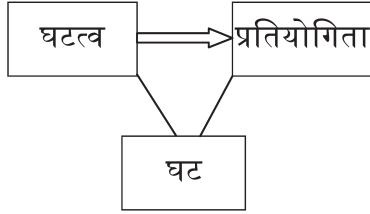
ऊपर वाले सभी उदाहरणों में घट में विद्यमान 'समवेत धर्म' जो कि घटत्व है वह घट में, 'ज्ञान', 'कार्य', 'कारण' तथा 'अभाव' जैसे निमित्तों के कारण आने वाले नैमित्तिक धर्मों को अवच्छिन्न (सीमित) करता है। इसका प्रयोजन यही है कि नैमित्तिक धर्मों के आधार के विषय में निःसन्दिग्ध और सठीक विधान करना।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि चूँकि हमारे प्रकृत ग्रन्थ (२७) में अभाव का उल्लेख आया है, अर्थात् चूँकि यहाँ सन्दर्भ है अभाव का, इसलिए लेखक ने कहा है कि अभाव की 'प्रतियोगिता' एक धर्म से तथा एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। इस विधान का अर्थ अब स्पष्ट हो गया है। 'अभाव की प्रतियोगिता एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है' इस विषय की चर्चा लेखक ने अग्रिम ग्रन्थ में ही की है। अर्थात् हम भी उसकी चर्चा वहीं करेंगे।

ग्रन्थ २८

सम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारे युक्तिरियम्— सामान्यतः कस्यापि कुत्रापि प्रायशः अभावो नास्ति। अन्ततः कालिकसम्बन्धेन सर्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात्। ततश्च अभावस्य अन्तरा कश्चित् सम्बन्धोऽस्तीति अवश्यमङ्गीकार्यम्। अभावस्य अन्तरा प्रविशन् सम्बन्धः प्रतियोगितामेव

अवच्छिन्दन् (विशेषयन्) सम्भवति नान्यथा। येन सम्बन्धेन यत्र यन्नास्ति, स एव सम्बन्धः तत्र तदभावस्य प्रतियोगितामवच्छिनत्ति (विशेषयति)। अत एव स एव सम्बन्धस्तस्याः अवच्छेदको भवति। प्रतियोगिता च तेन सम्बन्धेन अवच्छिन्ना भवति। यथा भूतले समवायसम्बन्धेन घटो नास्तीत्यत्र समवायसम्बन्धः भूतले घटाभावस्य प्रतियोगितां विशेषयतीति घटाभावस्य प्रतियोगिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना। समवायसम्बन्धश्च तस्याः प्रतियोगिताया अवच्छेदकः। तथा च सम्बन्धस्य अवच्छेदकत्वं विशेषकत्वरूपमिति फलितम्।

हिन्दी अनुवाद

'सम्बन्ध' को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने के पीछे तर्क यह है कि, सामान्य रूप से किसी वस्तु का (भी) कहीं पर अभाव नहीं होता है। ऐसा इसलिए कि अन्ततः 'कालिक सम्बन्ध' से सब कुछ (अर्थात् सारी वस्तुएँ) सर्वत्र (अर्थात् हर एक स्थान पर) विद्यमान होती हैं। फिर अभाव (तथा उसके आधार) के बीच कोई सम्बन्ध होता है यह (तो) अवश्य ही मानना होगा। अभाव (तथा उसके आधार) के बीच होने वाला सम्बन्ध प्रतियोगिता को अवच्छिन्न (नियमित) कर के ही हो सकता है, और किसी तरह नहीं हो सकता। जिस सम्बन्ध से कोई वस्तु किसी स्थान पर विद्यमान नहीं होती है वही सम्बन्ध उस स्थान पर उस वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता को नियमित करता है। इसलिए वही सम्बन्ध उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है और प्रतियोगिता उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है। जैसे 'भूमि पर समवाय सम्बन्ध से घट नहीं है' यहाँ पर भूमि पर घट के अभाव की प्रतियोगिता को समवाय सम्बन्ध नियमित (अवच्छिन्न) करता है इसलिए घटाभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न (है ऐसा कहा जाता) है। और समवाय सम्बन्ध उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। इस तरह सम्बन्ध का अवच्छेदकत्व विशेषकत्व रूप ही होता है। (अर्थात् सम्बन्ध अवच्छेदक है इसका अर्थ है सम्बन्ध विशेषक है।)

टिप्पणी

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने यह बात स्पष्ट की है कि सम्बन्ध भी (अभाव की)

प्रतियोगिता का अवच्छेदक हो यह क्यों आवश्यक है? इस बात को अच्छी तरह से समझने के लिए और एक अहम् बिन्दु को ध्यान में लाते हैं— जब भी कोई व्यक्ति अभाव-वाचक अव्यय अर्थात् 'नञ्' (न/अ-/अन्-) का वाक्य में प्रयोग करता है और कहता है, 'भूतले घटः न' (अर्थात् भूमि पर घड़ा नहीं है) अथवा 'घटः पटः न' (अर्थात् घड़ा वस्त्र नहीं है) तब ये दोनों यथाक्रम से संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव के उदाहरण हैं। भले किसी भी अभाव का उदाहरण क्यों न हो इसका प्रयोजन होता है किन्ही दो वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध को नकारना। जैसे ऊपर वाले उदाहरणों में पहले उदाहरण में भूमि और घड़े के बीच के सम्बन्ध को और दूसरे उदाहरण में घड़ा तथा वस्त्र के बीच के सम्बन्ध को नकारा गया है। श्रोता इन वाक्यों का अर्थ समझ सकता है क्योंकि वक्ता किस सम्बन्ध को नकारना चाहता है यह उसने समझ लिया है। अथवा दूसरे शब्दों में वक्ता किस सम्बन्ध को नकारना चाहता है यह श्रोता ने सठीक भाँप लिया होता है। अभाव के सन्दर्भ में सम्बन्ध का यदि कोई महत्त्व नहीं होता तो श्रोता के लिए ऊपर बताए गए दो विधानों को समझना कठिन हुआ होता। वह क्यों? हमारे लेखक ने स्पष्ट किया है कि कालिक सम्बन्ध से सब वस्तुएँ सभी स्थानों पर उपस्थित हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि केवल कालिक सम्बन्ध को ही लिया जाय तो किसी भी स्थान पर (किसी भी आधार पर) किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होता है। इस परिस्थिति में अभाव-विषयक विधान को समझना असम्भव हो जाएगा। (क्योंकि कालिक सम्बन्ध से कहीं पर भी किसी का भी अभाव नहीं है।) इसलिए वक्ता किस सम्बन्ध से किस वस्तु का किस स्थान (आधार) पर अभाव बताना चाहता है यह समझना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में जब भी कोई अभाव-वाचक विधान करता है तब उसके मन में कालिक सम्बन्ध नहीं होता है। किसी दूसरे सम्बन्ध से जैसे कि संयोग, समवाय इत्यादि सम्बन्ध से वक्ता अभाव की, जैसे भूमि पर घड़े के अभाव की, बात करना चाहता है।

अब प्रश्न यह है कि अभाव और उसके आधार के बीच सम्बन्ध कैसे प्रवेश करता है? यह सम्भव है उस अभाव की प्रतियोगिता को उस सम्बन्ध से नियमित करने से। एक और कारण के लिए भी यह आवश्यक है। जब कोई व्यक्ति, घड़े के भूमि पर होते हुए भी, 'भूमि पर घड़ा नहीं है' ऐसा कहता है, तब सम्भवतः वह यह कहना चाहता है कि 'भूमि पर समवाय सम्बन्ध से घड़ा नहीं है। इस तरह

प्रतियोगिता-अवच्छेदक सम्बन्ध के आधार पर वक्ता अपना अभिप्राय स्पष्ट कर सकता है। हमारे दर्शन का यही तो प्रमुख उद्देश्य है कि, श्रोता को सठीक बोध हो इसलिए असन्दिग्ध और सठीक विधान करना।

अब यह बात भी स्पष्ट हो गई कि जिस सम्बन्ध से कोई वस्तु किसी स्थान (अर्थात् आधार) पर नहीं होती है (ऐसा वक्ता कहना चाहता है) वही सम्बन्ध प्रतियोगिता-अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए हमारे लेखक ने उदाहरण लिया है— 'घड़ा समवाय सम्बन्ध से भूमि पर नहीं है। इस उदाहरण में, घड़े में जो अभाव की प्रतियोगिता है, वह समवाय सम्बन्ध से नियमित (अर्थात् अवच्छिन्न) है। दूसरे शब्दों में, घट भूतल पर किसी और सम्बन्ध से नहीं अपितु केवल समवाय सम्बन्ध से ही विद्यमान नहीं है। अब इसी बात को नव्यन्याय की भाषा में इस तरह कह सकते हैं— 'घटाभाव की प्रतियोगिता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है'।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गई कि, समवाय सम्बन्ध और घटनिष्ठ प्रतियोगिता में अवच्छेदक-अवच्छिन्न-सम्बन्ध है। अब यह बात भी अच्छी तरह से स्पष्ट हो गई कि अभाव कि प्रतियोगिता का विशिष्ट सम्बन्ध से अवच्छिन्न होना आवश्यक है क्योंकि कोई एक वस्तु किसी एक आधार में या आधार पर एक से अधिक सम्बन्धों से अविद्यमान होने की सम्भावना होती है।

ग्रन्थ २९

धर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वे युक्तिरियम्— अभावस्य प्रतियोगिता कुत्र वर्तते कुत्र वा न वर्तते इति निर्णयाय प्रतियोगितानियामकः कश्चिदस्तीति अवश्यमङ्गीकार्यम्। सर्वेषु प्रतियोगिषु वर्तमानः तदन्यत्रावर्तमानः प्रतियोगिगतः कश्चन असाधारणो धर्म एव प्रतियोगिताया नियामको भवति। य एव नियमितः स अवच्छिन्न इति। तथाहि— घटाभावस्य घटगता प्रतियोगिता कुत्र कुत्र वर्तते कुत्र कुत्र वा न वर्तते, इति प्रश्नस्य उत्तरमिदमेव भवति, यत्र यत्र घटत्वं वर्तते तत्र सर्वत्रैव घटाभावस्य घटगता प्रतियोगिता वर्तते। नान्यत्र कुत्रचित् घटत्वशून्ये; नापि च कस्मिन्नपि घटे तस्या अभाव

इति घटत्वमेव घटगताया घटाभावप्रतियोगितायाः स्थितिनियामकम्। घटत्वेनैव घटाभावप्रतियोगिता नियमितेति। नियामकत्वमेव अवच्छेदकत्वम्। नियमितत्वमेवावच्छिन्नत्वमिति।

यश्च प्रतियोगी भवति तत्र विशेषणतया प्रतीयमानोऽसाधारणो धर्मः तद्गतप्रतियोगिताया अवच्छेदको भवतीति फलितार्थः।

हिन्दी अनुवाद

'धर्म' को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने के पीछे तर्क यह है कि अभाव की प्रतियोगिता कहाँ (विद्यमान) है तथा कहाँ नहीं है इसका निर्णय करने के लिए प्रतियोगिता को नियमित करने वाला कुछ है यह मानना आवश्यक है; सभी प्रतियोगियों में रहने वाला उन्हें छोड़ कर अन्य कहीं न रहने वाला केवल प्रतियोगी में रहने वाला कोई असाधारण धर्म ही प्रतियोगिता का नियामक होता (हो सकता) है। जो (वस्तु) नियमित है वही अवच्छिन्न है। अब इसे इस प्रकार से समझते हैं— घटाभाव की घट में स्थित प्रतियोगिता कहाँ कहाँ विद्यमान है और कहाँ कहाँ नहीं है इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जहाँ जहाँ घटत्व है वहाँ वहाँ (अर्थात् हर एक घट में) घटाभाव की घटनिष्ठ प्रतियोगिता विद्यमान होती है। जहाँ घटत्व नहीं है ऐसे स्थान पर नहीं और ना ही किसी एक घट में भी उसका (प्रतियोगिता का) अभाव है इसलिए 'घटत्व' ही घट में स्थित घटाभाव की प्रतियोगिता की स्थिति नियमित करने वाला (धर्म) होता है। नियमित होना ही अवच्छिन्न होना होता है।

इस पूरी चर्चा का परिणामस्वरूप अर्थ यह निकलता है कि जो (कोई पदार्थ) प्रतियोगी होता है उसमें विशेषण के रूप में विद्यमान अर्थात् प्रतीत होने वाला असाधारण धर्म ही उसमें विद्यमान प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ को समझना सरल है यदि हम एक ही वस्तु में विद्यमान 'समवेत धर्म' तथा (उसमें किसी निमित्त से रहने वाले) 'नैमित्तिक धर्म' के विषय में हमारी चर्चा को (जो हमने ग्रन्थ १७ की टिप्पणी में की है) ध्यान में लाते हैं। उस चर्चा के विषय में हमारी स्मृति को ताज़ा कर हम अगले ग्रन्थ की ओर चलेंगे। वस्तु का

'समवेत धर्म' उसकी उत्पत्ति से लेकर उसके नाश तक उसमें विद्यमान रहता है। इसीको हमारे लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में वस्तु का 'असाधारण धर्म' बताया है। यह कुछ और नहीं बल्कि उस वस्तु का विशेषण अर्थात् उस वस्तु को विशेषित करने वाला धर्म है। 'नैमित्तिक धर्म' वस्तु में किसी 'निमित्त' से किसी 'विशिष्ट सन्दर्भ' में उसमें आने वाला धर्म होता है। जब वह 'निमित्त' अथवा वह 'सन्दर्भ' समाप्त होता है तब नैमित्तिक धर्म भी वस्तु को छोडकर चला जाता है। यह 'नैमित्तिक धर्म' बहुत सारे पदार्थों में साधारण होता है तथा उसे कतई 'असाधारण' नहीं कहा जा सकता है।

इसी वस्तुस्थिति का उपयोग हमारे दर्शन ने किसी विशिष्ट वस्तु में 'नैमित्तिक धर्म' के अस्तित्व को नियमित करने के लिए किया है। किसी वस्तु में हमेशा विद्यमान रहने वाले 'समवेत धर्म' को, उस वस्तु में केवल किसी निमित्त-वश आने वाले और उस निमित्त के रहने तक ही विद्यमान रहने वाले 'नैमित्तक धर्म' को नियमित करने का काम दिया है। इसलिए 'समवेत धर्म' 'अवच्छेदक' (अर्थात् नियामक) है तथा 'नैमित्तिक धर्म' 'अवच्छिन्न' (अर्थात् नियमित) होता है।

इस तरह यदि हम 'घटाभावः' का नव्यन्याय की भाषा में विस्तार करना चाहें तो वह नीचे दिए गए सोपानों द्वारा हो सकता है।

(१) घटाभावः (यह सरल संस्कृत है)

(२) घटप्रतियोगिक-अभावः

(३) घटनिष्ठ-प्रतियोगिताक-अभावः

(४) घटत्वावच्छिन्न-घटनिष्ठ-प्रतियोगिताक-अभावः

और

(५) घटत्वावच्छिन्न-घटनिष्ठ-प्रतियोगितानिरूपक-अभावः

इसके बाद घड़े के अभाव के विषय में बात हो रही है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

'घटाभावः' कहने पर और दो बातों की जानकारी यदि श्रोता को मिले तो उसको समूचे अर्थ का ज्ञान होगा। वह दो बातें हैं (१) घटाभाव का आधार और (२)

जिस सम्बन्ध से घट अपने आधार पर नहीं है वह सम्बन्ध। यदि कहा जाय 'भूतले संयोगसम्बन्धेन घटो नास्ति' तो घटाभाव के विषय में सारी जानकारी श्रोता को मिल गई है। अब इसी वाक्य को नव्यन्याय के तरीके से समझ लेते हैं—

(१) भूतले संयोगसम्बन्धेन घटः न।

(२) भूतल-अनुयोगिक-संयोग-संसर्गक-घट-प्रतियोगिक-अभावः।

(३) भूतलनिष्ठ-अनुयोगिताक-संयोग-संसर्गक-घट-निष्ठ-प्रतियोगिताक-अभावः।

(४) भूतलनिष्ठ-भूतलत्वावच्छिन्न-अनुयोगिताक-संयोग-संसर्गावच्छिन्न-घटनिष्ठ-घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-अभावः।

और

(५) भूतलनिष्ठ-भूतलत्वावच्छिन्न-अनुयोगिताक-संयोगसंसर्गावच्छिन्न-घटनिष्ठ-घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिता-निरूपक-अभावः।

यहाँ पर 'घटाभाव' के विषय में सारी जानकारी उपलब्ध है। यह 'घट' का ही अभाव है जो कि संयोग सम्बन्ध से भूतल पर नहीं है यह असन्दिग्ध रूप से बताया गया है। इसका हम अब सरल सा चित्र बनाते हैं—
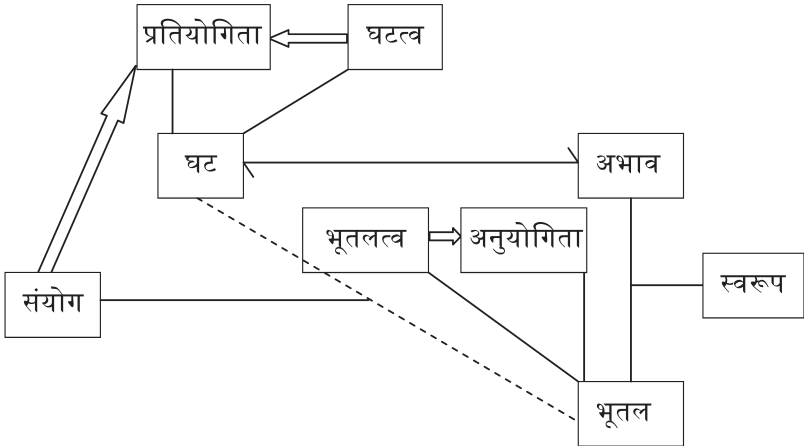
वस्तु में किसी निमित्त से आने वाले 'नैमित्तिक धर्म' को नियमित करने वाले

'समवेत धर्म' तथा 'सम्बन्ध' के बारे में कुछ बिन्दु ध्यान में रखने होंगे—

(१) अवच्छेदन का अर्थ है नियमित करना, सीमित करना और उससे बात को सठीक समझना।

(२) किसी भी विधान की सन्दिग्धता दूर करने के लिए इसकी आवश्यकता है।

(३) सन्दिग्धता दो विषयों में होती है—

(१) 'नैमित्तिक धर्म' जो कि वस्तु में आते-जाते रहते हैं। और

(२) 'सम्बन्ध' जिससे एक वस्तु दूसरी वस्तु से जुड़ी होती है।

यह इसलिए कि ये दोनों ही बहुत सी वस्तुओं में साधारण हैं तथा एकाधिक स्थानों में रहते हैं। इसी कारण श्रोता के मन में इनके विषय में शास्त्र-चर्चा के समय सम्भ्रम उत्पन्न हो सकता है जिसका परिणाम कोई शास्त्रीय विषय ठीक से न समझना ही होगा। शास्त्र-चर्चा में यह बहुत ही अनिष्ट है।

(४) वस्तु में 'समवेत धर्म' ही उसका असाधारण धर्म होता है और वह अपने आधार में (अर्थात् उस वस्तु में) किसी निमित्त से आने वाले 'नैमित्तिक धर्म' को नियमित (अवच्छिन्न) करता है।

(५) जिस सम्बन्ध से एक वस्तु दूसरी वस्तु से जुड़ी होती है अथवा जुड़ी नहीं होती है वह 'सम्बन्ध' वस्तु में विद्यमान 'नैमित्तिक धर्म' को नियमित ('अवच्छिन्न') करता है।

(६) अब हम 'अवच्छेदक' का अच्छा सा लक्षण अच्छे से ध्यान में रखते हैं— अन्यून-अनतिरिक्त-धर्मत्वम् अवच्छेदकत्वम्।

(७) कुछ 'समवेत धर्म' हैं— घटत्व, पटत्व, भूतलत्व, पुस्तकत्व इत्यादि। कुछ 'नैमित्तिक धर्म' हैं— कारणता, कार्यता, प्रतियोगिता, अनुयोगिता इत्यादि।

ग्रन्थ ३०

अथवा स्थूलत एवं रीत्या बोध्यम्— प्रतियोगिबोधक-विशेष्यपदोत्तरं 'त्व' 'तल्'(ता) प्रभृति भावप्रत्ययनिष्पन्नो (निष्पन्नपदवाच्यः) धर्मः प्रतियोगितावच्छेदको भवति। यथा— घटाभावस्य घटः प्रतियोगीति

प्रतियोगिवाचकं घटपदम्, तदुत्तरं 'त्व' प्रत्ययेन (घट+त्व) निष्पन्नो धर्मः (घटत्वं जातिः) घटगतप्रतियोगिताया अवच्छेदक इति। एवं रूपाभावस्य प्रतियोगिवाचकं रूपपदं तत्र त्वप्रत्ययनिष्पन्नपदस्यार्थः रूपत्वं जातिः रूपाभावस्य प्रतियोगिताया अवच्छेदिकेति। यद्यपि अवच्छेदकत्व-नियामकत्वयोरैक्यं तथापि ग्रन्थकृद्भिः अवच्छेदकपदस्यैव प्रयोगात् अवच्छेदकशब्द एव प्रयोक्तव्यः न तु नियामकशब्दोऽपि, तथात्वे अप्रयुक्ततादोषः स्यात्।

हिन्दी अनुवाद

अथवा मोटे तौर पे इस प्रकार से समझ सकते हैं— प्रतियोगि का बोध कराने वाले विशेष्य-पद के बाद 'त्व' या 'ता' यह भावप्रत्यय (अर्थात् भाववाचक प्रत्यय) लगाने से जो पद बनता है, उसका अर्थ जो धर्म होता है वह प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। जैसे 'घटाभाव' का प्रतियोगि 'घट' है इसलिए प्रतियोगि का बोध कराने वाला पद है 'घट'; उसके बाद 'त्व' प्रत्यय से (अर्थात् घट + त्व ऐसे) जो धर्म निष्पन्न होता है वह (अर्थात् 'घटत्व' जाति) घट में रहने वाली प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। ऐसे ही रूपाभाव के प्रतियोगि का वाचक (अर्थात् बोध कराने वाला) पद है 'रूप' उसमें 'त्व' प्रत्यय लगाने से जो पद मिलता है, अर्थात् रूपत्व जाति, वही रूपाभाव की प्रतियोगिता की अवच्छेदक है। यद्यपि अवच्छेदक(त्व) और नियामक(त्व) एक ही हैं तथापि ग्रन्थकारों ने केवल 'अवच्छेदक' पद का ही प्रयोग किया है, इसलिए (हमे भी) 'अवच्छेदक' पद का ही प्रयोग करना चाहिए 'नियामक' पद का नहीं; ऐसा करने से (अर्थात् 'नियामक' शब्द का प्रयोग करने से) 'अप्रयुक्तता' नामक दोष होगा।

टिप्पणी

यह ग्रन्थ हमारे लेखक का लिखा हुआ विशेष ग्रन्थ है। यहाँ पर उन्होंने प्रतियोगिता के (वस्तुतः किसी भी नैमित्तिक धर्म के) अवच्छेदक को शब्द की सतह पर ही पहचानने के लिए एक तत्त्व देने का प्रयास किया है। लेखक ने कहा है कि (प्रतियोगिता के विषय में) जो शब्द 'प्रतियोगी' का बोधक है उसके बाद भाववाचक 'त्व' अथवा 'ता' प्रत्यय लगाने से जो शब्द (अर्थात् पद) प्राप्त होता

है वही शब्द (प्रतियोगिता के) अवच्छेदक का वाचक होता है। यह अवच्छेदक को प्राप्त करने का सब से सरल प्रकार है। इससे सरल तरीका हो ही नहीं सकता (ऐसा अनुवादक का मानना है)। फिर भी बात को और भी सुचारु रूप से समझाने के लिए लेखक ने दो उदाहरण लिए हैं। पहला उदाहरण है 'घटाभाव' का। इसमें प्रतियोगि का बोध कराने वाला शब्द है 'घट'। इसके बाद जब 'त्व' या 'ता' में से एक यह भाववाचक प्रत्यय लगाया जाता है तब जो पद तैयार होगा वहि प्रतियोगिता के अवच्छेदक का बोधक पद होगा। अर्थात् 'घटत्व' ही घटनिष्ठ प्रतियोगिता के अवच्छेदक का वाचक पद होगा। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण को (जो कि रूपाभाव का है) भी स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु लेखक ने उसे भी पूरी तरह स्पष्ट किया है।

इस ग्रन्थ में लेखक ने एक और बिन्दु की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और वह बिन्दु है 'अवच्छेदक' पद के प्रयोग के विषय में। 'अवच्छेदक' 'नियामक' ही होता है। अर्थात् 'अवच्छेदक' का अर्थ है 'नियमन करने वाला', 'सीमित करने वाला', परन्तु यह स्पष्टीकरण केवल 'अवच्छेदक' की सङ्कल्पना को समझने-समझाने के लिए है। इसका अर्थ यह नहीं कि 'अवच्छेदक' के स्थान पर, उसके अर्थ में कोई इन शब्दों का प्रयोग (अर्थात् 'नियामक' 'विशेषक' इन पदों का प्रयोग) भी कर सकता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि नव्यन्याय के लेखकों ने कभी ऐसा नहीं किया है। अर्थात् 'अवच्छेदक' पद को छोड़ किसी दूसरे पद का प्रयोग नहीं किया है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह 'अप्रयुक्तता दोष' का दोषी होगा। 'अप्रयुक्तता दोष' का अर्थ है, जिस पद का प्रयोग बड़े ग्रन्थकारों ने कभी ना किया हो ऐसे पद का प्रयोग करना।

अब कोई इसे 'रूढ़िवादी' भी कह सकता है। 'शब्द-प्रमाण' में अधिक रुचि रखने वाला भी कह सकता है। परन्तु प्रस्तुत अनुवादक इसे दूसरी तरह से समझना चाहती है। यह एक 'शास्त्रीय पद्धति' का भाग है जो शास्त्र-चर्चा में अनुशासन लाता है। समानार्थी पदों के अनावश्यक प्रयोग से निर्माण होने वाले भ्रम तथा सन्देह को दूर रखने के लिए यह अनुशासन शास्त्रचर्चा में आवश्यक है। समानार्थक पदों का प्रयोग जहाँ काव्य में बहुत बड़ा गुण है वही शास्त्रचर्चा में बस एक दोष ही है। दोनों (अर्थात् काव्य और शास्त्र) के लक्ष्य तथा उद्देश्य पृथक् पृथक् हैं और इसीलिए दोनों की पद्धति भी भिन्न ही है।

ऊपर उल्लिखित दोनों उदाहरण चित्र द्वारा ध्यान में रखना सरल होगा—

(१)
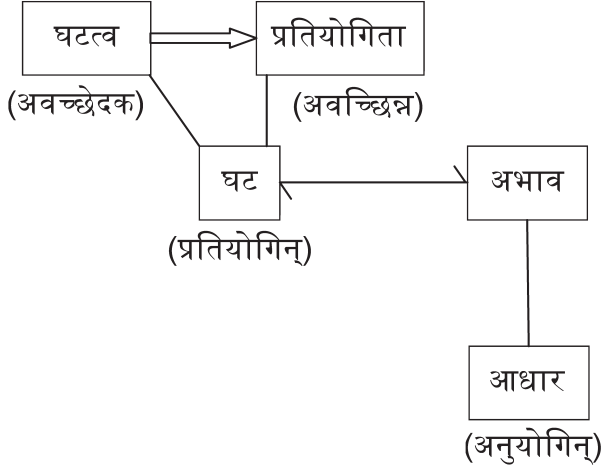
(२)
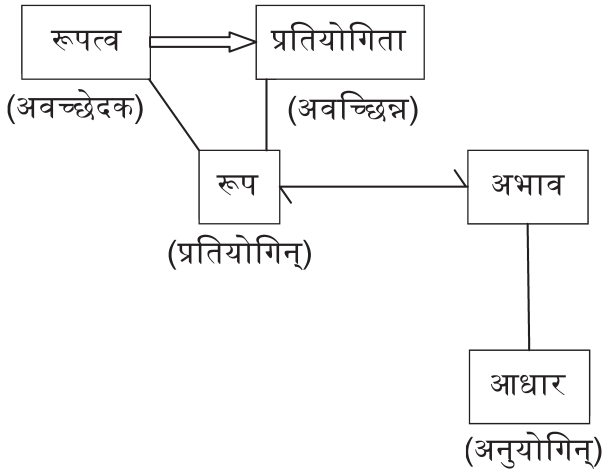
ग्रन्थ ३१

वृत्तितावत् प्रतियोगितापि अभावेन निरूपिता भवति, अभावश्च प्रतियोगितायाः निरूपकः (नियामकः(?))। एवम् अवच्छेदकताप्रतियोगितयोरपि परस्परं निरूप्य-निरूपकभावोऽस्ति। अवच्छेदकतानिरूपिता प्रतियोगिता, प्रतियोगितानिरूपिता च अवच्छेदकता भवति। ततश्च समवायेन घटो नास्तीत्यस्य समवायसम्बन्धावच्छिन्नघटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकः अयमभाव इत्यर्थः।

हिन्दी अनुवाद

जैसे वृत्तिता (अपने अधिकरण से अथवा उसमें स्थित अधिकरणता से निरूपित होती है) ठीक उसी तरह प्रतियोगिता भी अभाव से निरूपित (अर्थात् वर्णित) होती है तथा अभाव प्रतियोगिता का निरूपक होता है। ऐसे ही अवच्छेदकता और प्रतियोगिता के बीच परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव होता है। अवच्छेदकता प्रतियोगिता से निरूपित होती है और प्रतियोगिता अवच्छेदकता से निरूपित होती है। इस प्रकार 'समवाय से घड़ा नहीं है' का अर्थ है— समवाय सम्बन्ध से तथा घटत्व से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक (निरूपण करने वाला) यह अभाव है।

टिप्पणी

नव्यन्यायभाषाप्रदीप का मूल पाठ ब्रैकेट में दिया है जिसे बदल कर हमने निरूपकः यह पाठ स्वीकार किया है। इससे वाक्य अर्थपूर्ण हो गया है। इस ग्रन्थ को समझना कठिन नहीं होगा क्योंकि इसमें चर्चित सभी बिन्दुओं की चर्चा हमने भिन्न भिन्न सन्दर्भों में पहले की है। हम बस एक बार उन सब बिन्दुओं को ध्यान में लाते हैं। उससे पहले इस ग्रन्थ में चर्चित सबसे अहं बिन्दु पर ध्यान देते हैं। यह बिन्दु है अभाव और उसकी प्रतियोगिता के बीच का सम्बन्ध तथा अवच्छेदकता और प्रतियोगिता के बीच का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध है निरूप्य-निरूपक-भाव।

वृत्तिता अर्थात् आधेयता और प्रतियोगिता दोनों नैमित्तिक धर्म हैं। वे दोनों ही किसी वस्तु में किसी विशेष निमित्त से ही आते हैं। जब 'घटाभाव' की चर्चा होती

है तब ‘घट’ में ‘प्रतियोगिता’ आती है। कोई जब ‘घटाभाव’ की बात करता है तब ‘घट’ उस अभाव का ‘प्रतियोगी’ बन जाता है। इसे और अच्छे से समझ लेते हैं। अगर घट उपस्थित होता तो उसके अभाव का ज्ञान ही नहीं होता। ‘घट’ ‘घटाभाव’ का ‘विरोधी’ है इसलिए उसे ‘घटाभाव’ का ‘प्रतियोगी’ कहा जाता है। ‘प्रतियोगी’ का अर्थ, इस सन्दर्भ में ‘विरोधी’ है। चूँकि घट उसके अभाव का प्रतियोगी है, अभाव के निमित्त से उसमें प्रतियोगिता आ जाती है। इसीको दूसरे शब्दों में कहते हैं कि ‘अभाव’ प्रतियोगिता का निरूपक है तथा प्रतियोगिता अभाव की निरूपक है। घट में घट का ‘समवेत धर्म’ ‘घटत्व’ है और वह घट में आई ‘प्रतियोगिता’ का अवच्छेदक बन जाता है। अब हमे यह समझना चाहिए कि प्रतियोगिता के कारण ही ‘घटत्व’ को एक और नाम मिला है जो है ‘अवच्छेदक’। वह इसलिए कि ‘प्रतियोगिता’ एक नैमित्तिक धर्म है और उसे नियमित करना आवश्यक है और चूँकि घट में इस प्रतियोगिता को ‘घटत्व’ अवच्छिन्न करता है, ‘घटत्व’ ‘अवच्छेदक’ (अवच्छिन्न या नियमित करने वाला) कहलाता है। इसीलिए कहा गया है कि प्रतियोगिता तथा अवच्छेदकता में परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव है अर्थात् दोनों एक दूसरे को निरूपित करते हैं।

इस पूरी चर्चा को ध्यान में रखने के लिए हम केवल एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते हैं और वह बिन्दु है— सब नैमित्तिक धर्म जोड़ी जोड़ी में रहते हैं। इन्हें हम जोड़ी-धर्म कह सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दो परस्पर-सम्बद्ध वस्तुओं में रहते हैं जब जिस निमित्त से ये नैमित्तिक धर्म कहलाते हैं वह निमित्त उपस्थित होता है। दूसरे शब्दों में ये सह-ज या समवेत नहीं होते हैं। ये हमेशा जोड़ी में होते हुए एक दूसरे का निरूपण करते हैं। ऐसी कुछ जोड़ियाँ इस प्रकार हैं (१) आधेयता-आधारता (२) कार्यता-कारणता (३) हेतुता-साध्यता (४) विषयता-विषयिता (५) प्रतियोगिता-अनुयोगिता (६) अवच्छेदकता-अवच्छिन्नता इत्यादि। इनमें से दो के चित्र बनाते हैं, इससे इस बिन्दु को ध्यान में रखना सरल होगा।
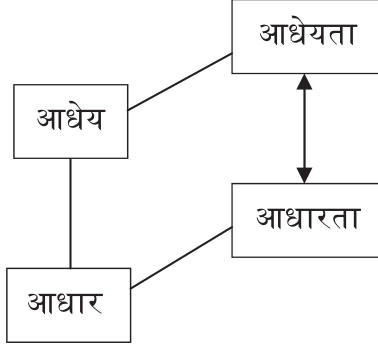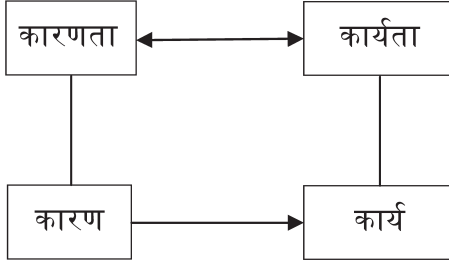
ऐसे चित्र ऊपर लिखे गए तथा अन्य भी सभी नैमित्तिक धर्मों की जोड़ियों के बन सकते हैं। इसमें एक बात की ओर ध्यान देना होगा कि निरूप्य-निरूपक-सम्बन्ध का बाण दोनों तरफ नोक वाला है। यह इसलिए कि यह सम्बन्ध परस्पर में अर्थात् दोनों तरफ से है। अर्थात् दोनों में से कोई भी निरूपक हो सकता है और कोई भी निरूपित हो सकता है।

ग्रन्थ ३२

एकस्य अभावस्य बहूनि प्रतियोगीनि सन्ति। सुतरां प्रतियोगिताः तदवच्छेदकसम्बन्धाश्चापि बहवो भवन्ति। तथा हि द्वितीयाभावः (घटाभावाभावः) प्रतियोगि(घट)स्वरूपः। तृतीयाभावः (घटाभावाभावाभावः) प्रथमाभाव(घटाभाव)स्वरूप इति प्रथमाभावस्य

(घटाभावस्य) घट इव द्वितीयाभावोऽपि (घटाभावाभावोऽपि) प्रतियोगी। तस्मिंश्च एका अपरा प्रतियोगिता वर्तते। तस्याश्च प्रतियोगितायाः अवच्छेदको धर्मः द्वितीयाभावत्वम् (घटाभावाभावत्वम्) अवच्छेदकसम्बन्धश्च स्वरूपम्। एवमन्यदपि प्रतियोगि ऊह्यम्।

हिन्दी अनुवाद

एक अभाव के कई प्रतियोगी होते हैं। इसलिए प्रतियोगिताएँ और उनके अवच्छेदक सम्बन्ध भी एकाधिक होते हैं। इसे इस तरह समझा जा सकता है— दूसरा अभाव (अर्थात् घटाभाव का अभाव) प्रतियोगिरूप (अर्थात् घटरूप) होता है। तीसरा अभाव (घटाभाव के अभाव का अभाव) पहले अभावरूप (घटाभावरूप) होता है, अतः पहले अभाव का (घटाभाव का) प्रतियोगि जैसे घट होता है वैसे ही दूसरा अभाव (घटाभाव का अभाव) भी होता है। उसमें एक और प्रतियोगिता होती है। उस प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म द्वितीयाभावत्व (अर्थात् घटाभावाभावत्व) होता है। और अवच्छेदक सम्बन्ध होता है स्वरूप। इसी प्रकार और प्रतियोगियों के बारे में भी अनुमान लगाया जा सकता है।

टिप्पणी

यहाँ बात हो रही है तुल्यबल पर्यायों की। दो बार नकार का अर्थ एक सकारात्मक विधान होता है। साङ्केतिक तर्कशास्त्र (Symbolic Logic) में इसे p =~~p इस प्रकार दिखाया जाता है। यहाँ पर ‘p’ का अर्थ है proposition अर्थात् विधान। इसलिए यदि ‘p’ के स्थान पर ‘अभी बारिश हो रही है’ जैसा विधान रखते हैं तो परस्पर के पर्याय होने वाले दो विधान इस प्रकार होंगे : (१) अभी बारिश हो रही है। और (२) ऐसा नहीं है कि अभी बारिश नहीं हो रही है। ये दोनों विधान समानार्थक हैं।

इसी प्रकार लेखक कहते हैं कि ‘घट’ ‘घट के अभाव के अभाव’ का पर्याय है। अर्थात् ‘घट’ का पर्याय है ‘घट के अभाव का अभाव’। आपाततः ये दोनों भिन्न लगते हैं परन्तु थोड़ा विचार करने पर इनकी समानता ध्यान में आती है। इसे इस प्रकार समझते हैं— अगर कोई कहता है, ‘वहाँ पर घड़ा है’ तो इस विधान का पर्यायी (अर्थात् समानार्थक) विधान होगा, ‘ऐसा नहीं है कि वहाँ पर घड़ा नहीं है।’

इस प्रकार 'घड़ा' और 'घड़े के अभाव के अभाव' का एक दूसरे का पर्याय होना, एक दूसरे का समानार्थक होना समझा जा सकता है।

इसे समझने के बाद हमारे लेखक का विधान सरलता से समझ में आएगा। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस विषय में (हमारे दर्शन में भी) सभी दार्शनिकों का मत एक सा नहीं है। जो दार्शनिक इस बात को नहीं मानते हैं, उनके मत में भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ कभी एक दूसरे के पर्याय हो नहीं सकते। यह इसलिए कि एक 'भाव' है और दूसरा 'अभाव'। ये दोनों परस्परविरुद्ध ही हैं, ये एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते।

अब हमारे लेखक के मत को समझते हैं। उनके मत में 'घट' 'घटाभाव के अभाव' के बराबर होता है तथा 'घटाभाव' 'घटाभाव के अभाव के अभाव' के बराबर होता है। इसे ध्यान में रखने के लिए इस प्रकार लिख सकते हैं—

घट $\equiv$ घटाभावाभाव

घटाभाव $\equiv$ घटाभावाभावाभाव

घटाभावाभाव $\equiv$ घटाभावाभावाभावाभाव

इत्यादि। इसलिए लेखक ने 'पहला अभाव', 'दूसरा अभाव', 'तीसरा अभाव' जैसे पदों का प्रयोग किया है। लेखक का मानना है कि अगर हम इन पर्यायों को मानते हैं, तो एक अभाव के एक से अधिक प्रतियोगी होंगे। अर्थात् जितने तुल्यबल अर्थात् समानार्थक पर्याय होंगे उतने प्रतियोगी होंगे। यदि ऐसा हुआ तो फिर उन प्रतियोगियों में रहने वाली प्रतियोगिताएँ भी भिन्न भिन्न होंगी उनके अवच्छेदक धर्म तथा अवच्छेदक सम्बन्ध भी भिन्न ही होंगे।

इससे कोई सम्भ्रम उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि इस विषय का निर्णय, वक्ता इसको (किसी अभाव को) कैसे अभिव्यक्त करता है उसपर निर्भर होता है और इसी कारण से एक समयपर एक अभाव का एक ही प्रतियोगि होता है। बात यह है कि, हमारे दर्शन में कई लोगों ने इन पर्यायों को स्वीकारा है यह हमारे ध्यान में रहे।

ग्रन्थ ३३

भावपदार्थवत् अभावोऽपि व्याप्यवृत्तिरव्याप्यवृत्तिश्च भवति। 'व्याप्य' सर्वमेव आधारस्यांशं कालं देशं वा अवलम्ब्य वर्तते यः स व्याप्यवृत्तिः। कस्मिन्नपि अंशे कालविशेषे देशविशेषे वा यस्याधिकरणे अभावो नास्ति स व्याप्यवृत्तिः। यथा मनुष्ये मनुष्यत्वं जातिः, आकाशे रूपाभावः, शशे विषाणाभावः।

स्वाधारेऽपि यस्याभावो वर्तते, सः अव्याप्यवृत्तिः यथा वृक्षे कपिसंयोगः कपिसंयोगाभावश्च अव्याप्यवृत्तिः।

हिन्दी अनुवाद

भाव पदार्थ की तरह अभाव भी व्याप्यवृत्ति और अव्याप्यवृत्ति (दोनों प्रकारों का) होता है। (व्याप्यवृत्ति का अर्थ हुआ अपने समूचे आधार को व्याप्त कर रहने वाला और अव्याप्यवृत्ति इसके ठीक विपरीत अर्थात् अपने आधार में अपने अभाव के साथ रहने वाला अर्थात् समूचे आधार को व्याप्त न करने वाला) जिसके अधिकरण में अर्थात् विशिष्ट काल में या विशिष्ट देश में, किसी भी अंश में उसका अभाव ना हो उसे व्याप्यवृत्ति (पदार्थ) कहते हैं। जैसे कि मनुष्य में मनुष्यत्व जाति, आकाश में रंग का अभाव, शश में (अर्थात् खरगोश में) सिंग का अभाव (ये सारे व्याप्यवृत्ति पदार्थ हैं)। स्वयं के आधार में भी जिसका अभाव रहता है वह (पदार्थ अर्थात् वस्तु) अव्याप्यवृत्ति होता है। जैसे वृक्ष पर वानर का संयोग तथा उसके संयोग का अभाव (दोनों ही) अव्याप्यवृत्ति हैं।

टिप्पणी

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'व्याप्य-वृत्ति' तथा 'अव्याप्य-वृत्ति' इन दो सङ्कल्पनाओं की चर्चा की गई है। सभी पदार्थों को 'व्याप्य-वृत्ति' और 'अव्याप्य-वृत्ति' इन दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये दो नाम अन्वर्थ हैं अर्थात् इन नामों से ही उनके अर्थ का ज्ञान होता है। 'व्याप्य-वृत्ति' पदार्थ ऐसा पदार्थ होता है जो अपने पूरे आधार पर अर्थात् समूचे आधार को व्याप्त कर रहता है। इसका अर्थ हुआ कि अपने आधार पर कहीं भी उस पदार्थ का अर्थात् आधेय का अभाव नहीं होता। इसका उदाहरण

है 'जाति'। 'जाति' अपने आधार को पूरी तरह व्याप्त कर ही रहती है। उदाहरण के लिए 'मनुष्यत्व' जाति को लिया जा सकता है। 'मनुष्यत्व' जाति का आधार हैं सारे 'मनुष्य'। 'मनुष्यत्व' जाति कुछ 'मनुष्यों' में हो और दूसरे कुछ 'मनुष्यों' में ना हो यह सम्भव नहीं है। यह अपने समूचे आधार में अर्थात् हर एक मनुष्य में रहती है। इसे चित्र द्वारा भी ध्यान में रख सकते हैं—
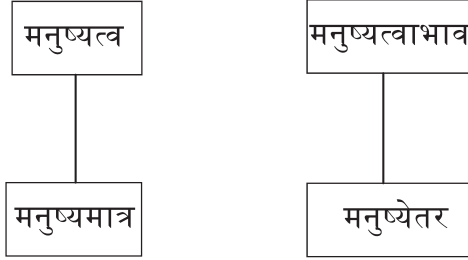
इसके विपरीत अव्याप्यवृत्ति पदार्थ अपने आधार के कुछ भाग में ही रहता है। उदाहरण के लिए यदि हम 'संयोग' ले लेते हैं तो 'संयोग' एक ऐसा पदार्थ है जो जिन दो वस्तुओं में होता है उनमें केवल उस भाग में ही रहता हैं जहाँ वो दो वस्तुएँ जुड़ी होती है। वह भाग छोड़ इतरत्र उन दो वस्तुओं में संयोग का अभाव होता है। दूसरे शब्दों में 'अव्याप्य-वृत्ति' पदार्थ अपने आधार में अपने अभाव के साथ रहता है। इस प्रकार, यदि वृक्ष में 'वानर का संयोग' है तो वह वृक्ष की केवल उस शाखा में ही है, जहाँ वानर बैठा है। वृक्ष में, उस शाखा को छोड़कर सर्वत्र वानर के संयोग का अभाव ही है। इसलिए हमारे लेखक ने कहा है कि 'वानर का संयोग' और 'वानर के संयोग का अभाव' दोनों ही वृक्ष में अव्याप्यवृत्ति हैं। अर्थात् दोनों ही सम्पूर्ण वृक्ष को व्याप्त कर नहीं रहते हैं।

'जैसे भावपदार्थ व्याप्यवृत्ति और अव्याप्यवृत्ति होता है ठीक उसी तरह उसका अभाव भी व्याप्यवृत्ति और अव्याप्यवृत्ति होता है' इस बात को समझना कठिन नहीं है। जैसे 'संयोग' अपने अभाव के साथ अपने आधार पर रहता है उसी प्रकार उसका अभाव भी अपने आधार पर अपने अभाव के साथ (अर्थात् अपने प्रतियोगी के साथ) रहता है। इसे चित्र द्वारा ध्यान में रख सकते है—
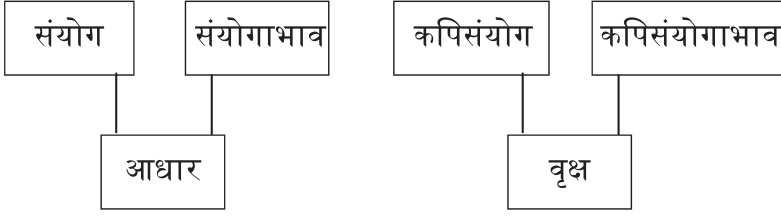
ग्रन्थ ३४

अव्याप्यवृत्तिपदार्थस्य वृत्तितायाः कश्चित् सीमापरिच्छेदकः अस्ति। परिच्छेदक एवात्र अवच्छेदकनाम्ना व्यवह्रियते। स च क्वचित् आधारस्य अंशविशेषः, क्वचित् कालविशेषः, क्वचिच्च देशविशेष इति। तथा 'शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी, न मूले' इत्यत्र वृक्षे कपिसंयोगस्य वृत्तितायाः सीमापरिच्छेदकतया शाखा अवच्छेदिका। कपिसंयोगाभावस्य तु मूलम् अवच्छेदकम्। 'उत्पत्तिकाले पुष्पं न गन्धवत् किन्तु तदुत्तरम्' इत्यत्र पुष्पे गन्धाभावस्य वृत्तितायाम् उत्पत्तिकालः अवच्छेदकः। "वसन्ते यवाः मगधे तिष्ठन्ति, न तु गिरौ" इत्यत्र वसन्ते यववृत्तितायाः मगधदेशः अवच्छेदकः यवाभावस्य वृत्तितायां गिरिप्रदेशः अवच्छेदकः।

हिन्दी अनुवाद

अव्याप्य-वृत्ति पदार्थ की वृत्तिता का (अर्थात् उसके अस्तित्व का) एक सीमापरिच्छेदक होता है। परिच्छेदक को ही यहाँ (इस सन्दर्भ में) अवच्छेदक कहा जाता है। वह कभी आधार का कोई भाग होता है कभी विशिष्ट काल तो कभी विशिष्ट देश होता है। उस तरह 'शाखा में वृक्ष कपि-संयोगी है, मूल में नहीं' इस वाक्य में, वृक्ष में कपिसंयोग के सीमापरिच्छेदक के रूप में (वृक्ष की) शाखा अवच्छेदक है। कपिसंयोगाभाव (की वृत्तिता) का अवच्छेदक (वृक्ष का) मूल है। उत्पत्तिकाल में फूल गन्ध वाला (अर्थात् सुगन्धी) नहीं होता है परन्तु उत्तरकाल में होता है इस वाक्य में गन्धाभाव की वृत्तिता का अवच्छेदक उत्पत्तिकाल होता है। वसन्त (ऋतु) में यव मगध में होते हैं गिरि (प्रदेश) में नहीं इस वाक्य में यववृत्तिता (अर्थात् यवों के अस्तित्व) का मगध देश अवच्छेदक है और यवाभाव की वृत्तिता का गिरिप्रदेश अवच्छेदक है।

टिप्पणी

अव्याप्यवृत्ति पदार्थ के विषय में और एक बात ध्यान में रखनी होगी। वह बात यह है कि चूँकि यह पदार्थ अपने समूचे आधार को व्याप्त कर नहीं रहता है इसलिए यह आधार का कौन सा भाग व्याप्त करता है (अर्थात् किस भाग में रहता है) यह निश्चित करने के लिए कोई नियामक होना चाहिए। लेखक कहते हैं कि यह नियामक कभी आधार का कुछ अंश होता है, कभी यह नियामक होता है कोई कालविशेष (अर्थात् कोई विशिष्ट काल) या कभी कोई देशविशेष (अर्थात् कोई विशिष्ट प्रदेश) होता है।

इन तीनों सम्भावनाओं को समझाने के लिए लेखक ने तीन उदाहरण दिए हैं—

(१) शाखायां वृक्षः कपिसंयोगी, न मूले।

(२) उत्पत्तिकाले पुष्पं न गन्धवत्, किन्तु तदुत्तरम्।

और

(३) वसन्ते यवाः मगधे तिष्ठन्ति न तु गिरौ।

हम एक एक कर इन्हें समझते हैं। पहला उदाहरण वानर के वृक्ष (पेड़) के साथ संयोग का है। जब वानर वृक्ष पर बैठता है तब उसका संयोग केवल उस शाखा से होता है जिसपर वह बैठा है। इसलिए पहले उदाहरण में, वानर के संयोग के अस्तित्व की नियामक वृक्ष की वह शाखा है जिसपर वानर बैठा है। इस प्रकार यह उदाहरण अव्याप्यवृत्ति पदार्थ के नियामकों के तीन प्रकारों में से पहले प्रकार का है। अर्थात् यहाँ पर अव्याप्यवृत्ति पदार्थ कपिसंयोग का जो आधार (वृक्ष) है उसका एक अंश (शाखा) कपिसंयोग की वृत्तिता का नियामक है। हमें इस बात का ध्यान रखना है कि 'नियामक' ही 'अवच्छेदक' है। एक चित्र द्वारा भी हम इन बिन्दुओं को अच्छी तरह समझ सकते हैं—

दूसरे उदाहरण में, पुष्प (फूल) में गन्धाभाव के अस्तित्व (वृत्तिता) का 'काल' नियामक होता है। पुष्प की उत्पत्ति के बाद केवल एक क्षण पुष्प में गन्धाभाव होता है। इसलिए वही एक क्षण (पल) पुष्प में गन्धाभाव की वृत्तिता का नियामक अर्थात् अवच्छेदक होता है। उसके बाद अर्थात् दूसरे क्षण से ही पुष्प सुगन्धी होता है,

अर्थात् वह गन्ध (खुशबू) का आधार होता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखने के लिए एक चित्र बनाते हैं—
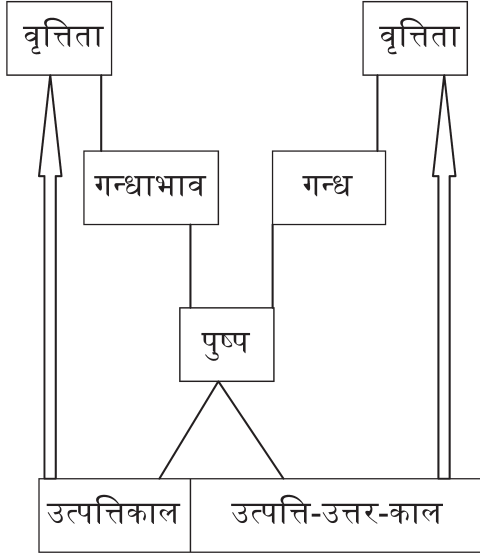
इस प्रकार गन्धाभाव की वृत्तिता को पुष्प में 'उत्पत्तिकाल' नियमित करता है और इसी कारण वह गन्धाभाव की वृत्तिता का अवच्छेदक बन जाता है और 'तदुत्तरकाल' पुष्प में गन्ध की वृत्तिता को नियमित कर गन्ध की वृत्तिता का अवच्छेदक बन जाता है।

तीसरा उदाहरण है— वसन्त ऋतु में यव मगधदेश में होते हैं, गिरिप्रदेश में नहीं होते। यहाँ पर 'काल' अर्थात् वसन्त ऋतु यवों का तथा यवों के अभाव का सामान्य (एक ही) आधार है। ये दोनों (अर्थात्, यवों का होना तथा न होना) दो भिन्न देशों से नियमित (अवच्छिन्न) हुए हैं। अर्थात् मगधदेश यवों की वृत्तिता का और गिरिप्रदेश यवों के अभाव की वृत्तिता का अवच्छेदक है। इसका एक चित्र बनातें हैं—
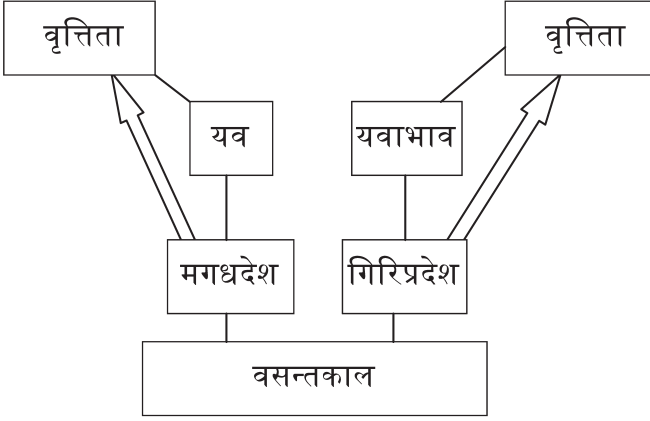
यदि हम दूसरे और तीसरे उदाहरण में क्या समानता है और क्या अन्तर है यह समझने का प्रयास करते हैं तो कुछ बिन्दु सामने आ जाते हैं। दूसरे उदाहरण में 'पुष्प' 'गन्ध' तथा 'गन्धाभाव' का समान आधार है। यह कैसे सम्भव है? यह इसलिए सम्भव है कि 'उत्पत्तिकाल' और 'तदुत्तरकाल' ने 'गन्धाभाव' तथा 'गन्ध' के अस्तित्व को पुष्परूपी एक ही आधार में अवच्छिन्न किया। तीसरे उदाहरण में 'यव' तथा 'यवाभाव' का समान आधार है वसन्तकाल। यह कैसे सम्भव हुआ? यह सम्भव हुआ क्योंकी 'मगधदेश' और 'गिरिप्रदेश' ने 'यव' और 'यवाभाव' की 'वृत्तिता' को 'वसन्तकाल' में, जो कि उनका एक ही आधार है, नियमित किया। हमारे दर्शन में एक 'न्याय' है— 'देशे वृत्तौ कालः अवच्छेदकः, काले वृत्तौ देशः अवच्छेदकः'। हमने अभी जो चर्चा की है उससे इस न्याय का अर्थ अच्छी तरह प्रतीत होता है। संक्षेप में कहेंगे— जब देश किसी वस्तु का आधार होता है तब उसकी आधेयता को 'काल' (अर्थात् समय) नियमित करता है और जब काल किसी वस्तु का आधार होता है तब उसकी आधेयता को 'देश' नियमित करता है।

ग्रन्थ ३५

अव्याप्यवृत्तिताया अवच्छेदकवाचकपदे प्रायशः सप्तमी भवति। यथा, 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी न मूले' इति प्रयोगः। अव्याप्यवृत्तिरभावः प्रतियोगिसमानाधिकरणो भवति। यथा वृक्षे कपिसंयोगाभावः।

वृक्षे कपिसंयोगः कपिसंयोगाभावश्च अस्ति। व्याप्यवृत्तिस्तु प्रतियोगिव्यधिकरणः, यथा आकाशे रूपाभावः। आकाशे रूपाभाव एवास्ति न तु रूपमिति।

हिन्दी अनुवाद

अव्याप्यवृत्तिता के अवच्छेदक को बताने वाले पद में प्रायः सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे, 'पेड़ अग्र में (शिखर में अर्थात् शाखा में) कपिसंयोगी है मूल में नहीं।

जो अभाव अव्याप्यवृत्ति (अर्थात् अपने आधार को पूरी तरह व्याप्त न करने वाला) होता है वह अपने प्रतियोगी के साथ एक ही अधिकरण में रहता है। जैसे कि 'वृक्ष में वानर के संयोग का अभाव'। वृक्ष में कपिसंयोग भी है और उसका अभाव भी। जो अभाव व्याप्यवृत्ति (अर्थात् अपने पूरे आधार को व्याप्त कर रहने वाला) होता है वह प्रतियोगि-व्यधिकरण (अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में रहने वाला) होता है, जैसे आकाश में रूप (रंग) का अभाव। आकाश में रूप का अभाव ही है। रूप (है ही) नहीं।

टिप्पणी

अव्याप्यवृत्ति पदार्थ को अच्छी तरह समझाने के पश्चात् हमारे लेखक ने अव्याप्यवृत्ति पदार्थ की वृत्तिता को उसके आधार में नियमित करने वाले अलग अलग अवच्छेदकों की चर्चा की। अव्याप्यवृत्ति पदार्थ भावपदार्थ भी हो सकता है और अभावपदार्थ भी हो सकता है। जब अव्याप्यवृत्तिपदार्थ के लक्षण का विचार किया जाता है, 'यह वस्तु अपने आधार पर अपने अभाव के साथ रहती है' एक बात स्पष्ट हो जाती है कि, यह वस्तु और उसका अभाव एक ही आधार में हैं। दूसरे शब्दों में, अपने आधार के कुछ हिस्से में ही ये दोनों रहते हैं। इसीसे यह बात स्पष्ट है की भावपदार्थ और अभावपदार्थ दोनों अव्याप्यवृत्ति होते हैं।

लेखक ने 'संयोग' और 'उसके अभाव' का उदाहरण दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जो पद अव्याप्यवृत्ति वस्तु की वृत्तिता के अवच्छेदक को दर्शाता है वह प्रायः सप्तमी विभक्ति में होता है। जैसे, 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी न मूले'। इसका अर्थ हुआ वृक्ष शिखर में कपिसंयोग वाला है मूल में

नहीं। 'शिखर' तथा 'मूल' ये वृक्ष के भाग हैं जो कि कपिसंयोग और उसके अभाव के अस्तित्व के अवच्छेदक हैं। ये दोनों पद सप्तमी विभक्ति में हैं (अग्रे और मूले)।

यह सामान्य नियम है। यह हमारे लेखक की विशेष शैली है कि किसी भी तथ्य को, सङ्कल्पना को अच्छे से समझाने के पश्चात् उसका शाब्दिक रूप कैसा होगा यह भी वे बता देते हैं। इससे उसे वाक्य में पहचानने में सरलता होती है।

दूसरा बिन्दु है, अव्याप्यवृत्ति तथा व्याप्यवृत्ति वस्तुओं मे क्या भेद है? यह बात, वस्तुतः, अब तक की चर्चा से स्पष्ट हो गई है। परन्तु लेखक, कदाचित्, हमें उन दो संज्ञाओं से अवगत कराना चाहते हैं जो इस सन्दर्भ में हमेशा आती हैं— प्रतियोगिसमानाधिकरण और प्रतियोगिव्यधिकरण। पहली संज्ञा का अर्थ है 'प्रतियोगि के साथ एक ही अधिकरण में रहने वाला' और दूसरी संज्ञा का अर्थ है 'प्रतियोगि के अधिकरण से भिन्न अधिकरण में रहने वाला'। जो अभाव अपने समूचे आधार को व्याप्त कर नहीं रहता है वह अपने प्रतियोगि के साथ एक ही आधार में रहता है परन्तु जो अभाव अपने समूचे आधार को व्याप्त कर रहता है वह अपने प्रतियोगि के साथ नहीं रहता है अर्थात् उसका प्रतियोगि दूसरे अधिकरण में रहता है। इनके यथाक्रम से दो उदाहरण है—

वृक्ष में कपिसंयोग का अभाव

और

(२) आकाश में रंग का अभाव।

पहले में संयोग का अभाव अपने प्रतियोगी (अर्थात् संयोग) के साथ एक ही वृक्ष में रहता है तथा दूसरे में आकाश में रूप कहीं भी नहीं अर्थात् रूपाभाव का प्रतियोगी (रूप) आकाश को छोड़ दूसरे अधिकरण (पृथिवी इत्यादि) में रहता है।

ग्रन्थ ३६

अभावश्च पुनर्द्विविधः। अन्योन्याभावः संसर्गाभावश्च। तादात्म्यं (तत्स्वरूपता, ऐक्यम्, अभेदः) नाम कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति। तेन सम्बन्धेन तस्य प्रतियोग्यनुयोगिनोरभेदः प्रतीयते। यथा 'सुन्दरो नर' इत्यत्र नर-सुन्दरयोः ऐक्यं प्रतीयते। तादात्म्यसम्बन्धेनाभावः (भेदः) अन्योन्याभावः।

यस्य अभावस्य प्रतियोगिता तादात्म्यसम्बन्धेनावच्छिन्ना स अन्योन्याभाव इति। यथा घटो न पट इति। ततश्च न्यायभाषायाम् अन्योन्याभावस्य 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-निरूपकाभावत्वमन्योन्याभावत्वम्' इति लक्षणं पर्यवसितं भवति। अन्योन्याभाव एव भेदः। अन्योन्याभावभिन्नः अभावः संसर्गाभावः। नञा अभावबोधने यत्र प्रतियोगिपदे अनुयोगिपदे च प्रथमा भवति, तत्र अन्योन्याभावः प्रतीयते। यथा 'घटो न पट' इति।

हिन्दी अनुवाद

अभाव दो प्रकार का होता है— अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव। तादात्म्य (अर्थात् तत्स्वरूप होना, एकता, अभेद) नामक एक सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से उसके प्रतियोगी तथा अनुयोगी में एकरूपता प्रतीत होती है। जैसे 'सुन्दर पुरुष' कहने से पुरुष और सुन्दर एक ही है (अर्थात् उन दोनों में ऐक्य है) ऐसा प्रतीत होता है। (इस) तादात्म्य सम्बन्ध से (जो) अभाव (होता है, वह) अन्योन्याभाव होता है। अर्थात् जिस अभाव की प्रतियोगिता 'तादात्म्य सम्बन्ध' से अवच्छिन्न होती है वह (अभाव) अन्योन्याभाव (अर्थात् भेद) होता है। जैसे घड़ा वस्त्र नहीं है। इस प्रकार न्याय की भाषा में अन्योन्याभाव का लक्षण होता है— जो तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता का निरूपक (वर्णन करने वाला) हो ऐसा अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। 'अन्योन्याभाव' ही 'भेद' होता है।

अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव संसर्गाभाव होता है। नञ् (अर्थात् अभाववाचक अव्यय) से जब अभाव का बोध होता है तब, जहाँ पर प्रतियोगिवाचक तथा अनुयोगिवाचक पद में प्रथमा विभक्ति होती है वहाँ अन्योन्याभाव का (ही) बोध होता है। जैसे, 'घड़ा वस्त्र नहीं है'। लेकिन जहाँ पर प्रतियोगिवाचक पद में प्रथमा तथा अनुयोगिवाचक पद में सप्तमी होती है वहाँ 'नञ्' से संसर्गाभाव का ज्ञान होता है। जैसे 'भूमि पर घड़ा नहीं है'।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में अभाववाचक अव्यय (नञ्) के दो अर्थ बताए गए हैं— (१) अन्योन्याभाव और (२) संसर्गाभाव। वैयाकरण 'नञ्' के छ अर्थ मानते हैं परन्तु हमारे दर्शन में 'नञ्' के दो ही अर्थ स्वीकृत हैं। इन दो अर्थों में सारे छ अर्थों का

अन्तर्भाव हो जाता है। ये छ अर्थ एक श्लोक में बतलाए गए हैं—

तत्सादृश्यं अभावश्च
तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च
नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

इस विषय पर अधिक जानकारी प्राप्त करने हेतु, जिज्ञासु वाचकगण, बी. के. मतिलाल की पुस्तक, 'The Navya-Nyaya Doctrine of Negation' को अवश्य देखें।

अब हमारी चर्चा की ओर बढ़ते हैं। हमे एक बात ध्यान में रखनी होगी कि हर 'नञ्' घटित वाक्य में किन्हीं दो वस्तुओं में सम्बन्ध का अभाव बतलाया जाता है। सम्बन्ध, 'भेदसम्बन्ध' तथा 'अभेदसम्बन्ध' इस प्रकार दो प्रकार के होते हैं। इसलिए हर एक नञ् घटित वाक्य से भेद सम्बन्ध अथवा अभेद सम्बन्ध का अभाव प्रतीत होता है।

अन्योन्याभाव अभेद सम्बन्ध का अभाव होता है। हमे पता है की जिस सम्बन्ध का अभाव होता है, अर्थात् जिस सम्बन्ध से कोई वस्तु उसके आधार में (पर) नहीं रहती है वह सम्बन्ध उस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। इस प्रकार यदि तादात्म्य सम्बन्ध से अभाव हो तो तादात्म्य सम्बन्ध(ही) प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है तथा इस अभाव का लक्षण इस प्रकार किया जाता है— जिस अभाव की प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न होती है वह अभाव अन्योन्याभाव होता है। जब तादात्म्य को छोड़ दूसरे किसी सम्बन्ध का अभाव होता है वह अभाव संसर्गाभाव कहलाता है। हमारे लेखक ने, हमेशा की तरह, शब्द की सतह पर अर्थात् वाक्य से ही दोनों में से कौनसे अभाव के विषय में बात हो रही है इसका पता लगाने के लिए जो निकष है वह बताया है। उन्होंने कहा है कि जब प्रतियोगिवाचक और अनुयोगिवाचक दोनों पद प्रथमा विभक्ति में होते हैं तब वह अन्योन्याभाव कहलाता है परन्तु जब प्रतियोगिवाचक पद में प्रथमा हो तथा अनुयोगिवाचक पद में सप्तमी हो तब वह संसर्गाभाव कहलाता है।

(अन्योन्याभाव) (संसर्गाभाव)

ग्रन्थ३७

स्थूलत इदमत्रावधेयम्— अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्य अभावः (तादात्म्याभावः, भेद इति यावत्) अन्योन्याभावः। संसर्गस्य, प्रतियोगिनः सम्बन्धस्य अनुयोगिनि अभावः संसर्गाभावः। अन्योन्याभावस्थले प्रतियोग्यनुयोगिनोः घटपटयोः परस्परम् अभेदाभावः (भेदः) प्रतीयते। संसर्गाभावस्थले तु प्रतियोग्यनुयोगिनोः घटभूतलयोः सम्बन्धो नास्तीति पर्यवसाने प्रतीतिः। अत एव प्रतियोग्यनुयोगिनोरभेदेऽपि 'घटे घटो नास्ति' इति संसर्गाभावप्रतीतिः।

हिन्दी अनुवाद

मोटे तौर पर यह ध्यान में रखना है— एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव (एक दूसरे से तादात्म्य का अभाव, भिन्न होना अर्थात् भेद) अन्योन्याभाव होता है। संसर्ग का अर्थात् प्रतियोगी के सम्बन्ध का अनुयोगी में अभाव (ही) संसर्गाभाव होता है। जहाँ अन्योन्याभाव होता है वहाँ पर प्रतियोगी और अनुयोगी का (जैसे) घड़े और वस्त्र का एक दूसरे से अभेद का अभाव (अर्थात्) भेद प्रतीत होता है। परन्तु जहाँ संसर्गाभाव होता है वहाँ पर 'प्रतियोगी और अनुयोगी का (अभेद छोड़) सम्बन्ध नहीं है' यह प्रतीति होती है। इसलिए 'घट में घट नहीं है' जैसे स्थान पर प्रतियोगी तथा अनुयोगी में अभेद होते हुए भी संसर्गाभाव की (ही) प्रतीति होती है।

टिप्पणी

अन्योन्याभाव तथा संसर्गाभाव की चर्चा इससे पूर्व (ग्रन्थ ३६ में) की गई है। इन दोनों अभावों को शब्द की सतह पर कैसे पहचाने इसकी भी चर्चा हुई है। यहाँ पर लेखक ने इन दोनों अभावों के विषय में स्थूलतः किस बात का ध्यान रखना है वह बताया है। इस बात को ध्यान में रखने से अभाव विषयक वाक्य सुनते ही या पढ़ते ही किस अभाव की चर्चा हो रही है यह समझ में आ जाएगा। हमें पता है कि अभाव का एक प्रतियोगी होता है तथा एक अनुयोगी होता है। इसलिए जब भी अभाव के विषय में बात होती है तब उस वाक्य में एक प्रतियोगिवाचक पद तथा एक अनुयोगिवाचक पद होता है। हमारे लेखक ने बताया है कि जब ये दोनों पद प्रथमा विभक्ति में होते है तब उस अभावविषयक वाक्य से अन्योन्याभाव की प्रतीति होती है तथा जब उन दो पदों में से एक अर्थात् प्रतियोगिवाचक पद प्रथमा विभक्ति में और दूसरा अर्थात् अनुयोगिवाचक पद सप्तमी विभक्ति में होता है तब उस अभावविषयक वाक्य से संसर्गाभाव की प्रतीति होती है। यहाँ पर जो बात ध्यान में रखने योग्य है, वह है, अन्योन्याभाव का अर्थ है भेद अथवा भिन्नता। इस बात को इस प्रकार समझा जा सकता है, जब कोई कहता है कि, ''क्ष' 'य' नहीं है' तब वह यही बताना चाहता है कि 'क्ष' 'य' से अलग है, भिन्न है। वस्तुतः हर एक वस्तु दूसरी हर वस्तु से भिन्न है। हर वस्तु 'एक' है तथा 'अद्वितीय' है। इसीलिए अन्योन्याभावविषयक विधान वस्तुतः 'भेद' विषयक विधान होता है। अत एव इसे संस्कृत में 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। हमने ऊपर जो बातें कही हैं उन्हें दूसरे प्रकार से कहते हैं— विश्व में हर एक वस्तु अपने आप से अभिन्न है अर्थात् अपने आप से अभेद सम्बन्ध से सम्बद्ध है। वह दूसरी किसी भी वस्तु से अभिन्न नहीं है। इसलिए, हमारे लेखक ने कहा है की अन्योन्याभाव के विषय में जो विधान किया जाता है उसमें दो पद प्रथमा विभक्ति में तथा एक अभाववाचक पद होता है। इस प्रकार अन्योन्याभावविषयक वाक्य (विधान) 'अभेद सम्बन्ध' को नकारता है। अर्थात् जब यह कहा जाता है कि 'क्ष' 'य' नहीं है , तब 'क्ष' और 'य' के बीच 'अभेद सम्बन्ध' को नकारा जाता है। इसलिए, हम यदि इस वाक्य से वक्ता का क्या अभिप्राय है इसकी आलोचना करते हैं तो हमे पता चलेगा कि इसमें अन्ततः तीन वाक्य छिपे हुए हैं—

(१) 'क्ष' 'क्ष' से अभिन्न है।

(२) 'य' 'य' से अभिन्न है।

और

(३) 'क्ष' 'य' से अभिन्न नहीं है।

इन तीनों वाक्यों में जहाँ तादात्म्य अर्थात् अभेद सम्बन्ध की बात हो रही है, 'क्ष' और 'य' प्रथमा विभक्ति में हैं। इसी बात की ओर हमारे लेखक हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

दूसरी तरफ, जब प्रतियोगिवाचक तथा अनुयोगिवाचक पद में समानविभक्तिकत्व नहीं होता है (अर्थात् सामानाधिकरण्य नहीं होता है) और 'क्ष' प्रथमा विभक्ति में तथा 'य' सप्तमी विभक्ति में होता है। तब वह अभाव संसर्गाभाव होता है। यह बात एक ऐसे उदाहरण द्वारा ध्यान में रखनी चाहिए जिसमें 'क्ष' तथा 'य' के स्थान पर एक ही पद हो, दो अलग अलग पद न हो। जैसे 'घड़े' में 'घड़ा' नहीं है। यह संसर्गाभाव का उदाहरण है, ना कि अन्योन्याभाव का। इस तरह केवल यह ध्यान देना आवश्यक है कि दोनों पद एक ही विभक्ति में हैं या भिन्न विभक्तियों में। अर्थात् प्रतियोगिवाचक पद तथा अनुयोगिवाचक पद में सामानाधिकरण्य है अथवा नहीं है। अगर दोनों पद प्रथमा विभक्ति में हैं जैसे घट (घड़ा) पट (वस्त्र) नहीं है (घटः पटः न) तो यह निश्चित रूप से अन्योन्याभाव का उदाहरण है। परन्तु यदि 'क्ष' और 'य' के स्थान पर एक ही पदार्थवाचक शब्द है और उन दोनो पदों की विभक्तियाँ भिन्न हैं जैसे, 'घटे घटः न' तो यह निःसन्देह संसर्गाभाव का उदाहरण है। हमने पहले भी देखा है कि हमारे लेखक का यह प्रयास रहता है कि जिस विषय की चर्चा होती है वह शब्द की सतह पर कैसे अभिव्यक्त होगा यह बता दिया जाए। इससे उस बिन्दु को समझना सरल होता है।

ग्रन्थ ३८

प्रतियोगितावत् अवच्छेदकता-साध्यता-कार्यता-विधेयता-हेतुता-कारणता-प्रकारतादयोऽपि धर्मगताः सापेक्षधर्माः केनचिद्धर्मेण केनचिच्च सम्बन्धेन अवच्छिन्नाः भवन्ति। अत्र वृत्तिता-प्रतियोगितास्थलीया युक्तिरिव युक्तिः स्वयम् उद्भावनीया। तत्र कियन्ति उदाहरणानि दर्शयामि।

हिन्दी अनुवाद

प्रतियोगिता की तरह अवच्छेदकता, साध्यता, कार्यता, विधेयता, हेतुता, कारणता, प्रकारता इत्यादि सारे सापेक्ष (अर्थात् नैमित्तिक अथवा जोड़ी) धर्म किसी एक धर्म से और किसी एक सम्बन्ध से अवच्छिन्न होते हैं। यहाँ पर वृत्तिता तथा प्रतियोगिता के (वर्णन के) स्थल पर जो युक्ति दी गई थी ठीक ऐसी ही युक्ति स्वीकारनी चाहिए। हम ऐसे कितने उदाहरण दिखाएंगे।

टिप्पणी

इस बिन्दु की विस्तृत चर्चा के लिए ग्रन्थ २९ पर की गई टिप्पणी को देखें। यह केवल हमारी स्मृति ताज़ा करने हेतु आवश्यक है।

ग्रन्थ ३९

अवच्छेदके विशेषणीभूतः धर्मः अवच्छेदकताया अवच्छेदको भवति। अवच्छेदके विशेषणीभूतः धर्मः येन सम्बन्धेन तिष्ठति स सम्बन्धः अवच्छेदकतावच्छेदकसम्बन्धो भवति। यथा 'दण्डी नास्ति' इत्यत्र दण्डिनि प्रतियोगिनि विशेषणतया उपस्थितो दण्डो दण्डिगत-प्रतियोगिताया अवच्छेदकः। दण्डश्च दण्डिनि संयोगसम्बन्धेन तिष्ठतीति दण्डगता प्रतियोगितावच्छेदकता संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना। दण्डे च दण्डत्वं विशेषणतया उपस्थितमिति दण्डगतायाः प्रतियोगितावच्छेदकताया अवच्छेदकं दण्डत्वम्। दण्डत्वं च दण्डे समवायसम्बन्धेन तिष्ठतीति दण्डत्वगता अवच्छेदकता समवाय-सम्बन्धावच्छिन्ना। दण्डत्वे च किमपि विशेषणतया न प्रतीयत इति दण्डत्वगता अवच्छेदकतावच्छेदकता निरवच्छिन्ना। ततश्च 'दण्डी नास्ति' इत्यस्य नैयायिकभाषायामयमर्थः— समवायसम्बन्धावच्छिन्न-दण्डत्वनिष्ठ-अवच्छेदकता-निरूपित-संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न-दण्डिनिष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपकः अभावः।

हिन्दी अनुवाद

अवच्छेदक में जो धर्म विशेषण होता है वह अवच्छेदकता का अवच्छेदक

होता है। अवच्छेदक में जो धर्म विशेषण होता है वह जिस सम्बन्ध से (अवच्छेदक में) रहता है वह सम्बन्ध अवच्छेदकता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। जैसे 'दण्डी नास्ति' (दण्डधारी नहीं है) इस वाक्य में दण्डी जो कि प्रतियोगी है उसमें दण्ड विशेषण है (इसलिए) वह दण्डी में जो प्रतियोगिता है उसका अवच्छेदक है। दण्ड दण्डी में संयोग सम्बन्ध से रहता है इसलिए दण्ड में जो प्रतियोगितावच्छेदकता है वह संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। दण्ड में विशेषण है दण्डत्व, इसलिए दण्ड में स्थित प्रतियोगितावच्छेदकता का अवच्छेदक दण्डत्व है। दण्डत्व दण्ड में समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिए दण्डत्व में स्थित अवच्छेदकता समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न है। चूँकि दण्डत्व में कुछ भी विशेषण रूप से भासमान नहीं है, इसलिए दण्डत्व में स्थित अवच्छेदकतावच्छेदकता निरवच्छिन्न (अर्थात् किसी धर्म से अवच्छिन्न नहीं) है। इस प्रकार 'दण्डी नास्ति' इस वाक्य का नैयायिकों की भाषा में (अर्थात् नव्यन्याय की भाषा में) अर्थ होगा— समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो दण्डत्व में स्थित अवच्छेदकता है उससे निरूपित संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न दण्ड में स्थित जो अवच्छेदकता है उससे निरूपित संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो दण्डी में स्थित प्रतियोगिता है उसका निरूपक (वर्णन करने वाला) यह अभाव है।

टिप्पणी

लेखक ने यहाँ पर एक बात बताई है कि 'अवच्छेदकता' भी नैमित्तिक (अर्थात् सापेक्ष अथवा जोड़ी) धर्म है, इसलिए उसे भी नियमित अथवा अवच्छिन्न करने की आवश्यकता है। अब प्रश्न है की अवच्छेदकता का अवच्छेदक क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर ठीक उसी प्रकार दिया गया है जैसे 'किसी भी नैमित्तिक धर्म को कैसे अवच्छिन्न करें' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया था। इसलिए, अवच्छेदक में जो धर्म विशेषण रूप से भासमान है (अर्थात् 'अवच्छेदक' वस्तु का जो समवेत धर्म है) वही धर्म अवच्छेदक में विद्यमान 'अवच्छेदकता' का अवच्छेदक धर्म है। इस प्रकार 'अवच्छेदकता का अवच्छेदक धर्म क्या होगा' इस प्रश्न का उत्तर मिल गया परन्तु यहाँ पर एक और प्रश्न भी है कि अवच्छेदकता को अवच्छिन्न करने वाला 'अवच्छेदक सम्बन्ध' कौन सा होगा? लेखक ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि, जिस सम्बन्ध से अवच्छेदक में विशेषण रूप से रहने वाला धर्म रहता है वह

सम्बन्ध अवच्छेदकता का अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। इसी बात को एक उदाहरण से समझाया गया है। उदाहरण है— 'दण्डधारी नहीं है' (अर्थात् हाथ में दण्ड लिए हुए पुरुष नहीं है)।

इस वाक्य में, वस्तुतः, एक अनुयोगि (अर्थात् अभाव का आधार) जोड़ देने से यह वाक्य पूरा हो जाएगा। हम कह सकते हैं कि दण्डधारी पुरुष घर में नही है। संस्कृत में यह वाक्य होगा 'गृहे दण्डी नास्ति'। हमारे लेखक ने जो शब्दों में कहा है उसे पहले एक चित्र द्वारा दृष्टिगोचर करने का प्रयास करते हैं—
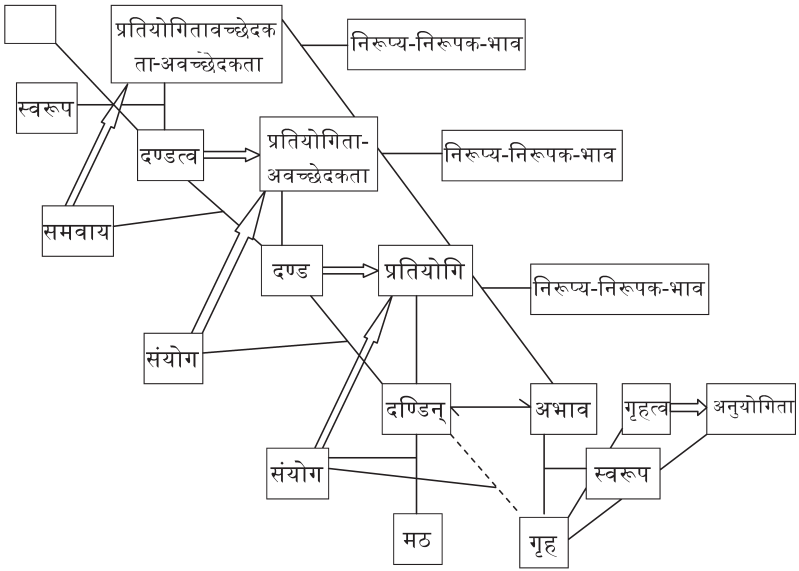
इस चित्र को नीचे से पढ़ा जा सकता है। घर में दण्डधारी नहीं है (गृह में दण्डी नहीं है)। इसलिए इस अभाव का प्रतियोगी हे दण्डिन्। अर्थात् प्रतियोगिता दण्डी में है। दण्डी संयोग सम्बन्ध से गृह में नहीं है तथा दण्डी में विशेषण (रूप से भासमान धर्म) है दण्ड। इसलिए दण्डी में विद्यमान प्रतियोगिता दोनों से अवच्छिन्न है— (१) 'दण्ड' से जो दण्डी का विशेषण है और (२) 'संयोग' से, जिस सम्बन्ध से 'दण्डी' गृह में नहीं है। इस प्रकार दण्ड (दण्डि में विद्यमान प्रतियोगिता का) अवच्छेदक बन गया इसलिए उसमें अब 'अवच्छेदकता' है। यह अवच्छेदकता भी (१) 'दण्डत्व' (जो दण्ड में विशेषणीभूत धर्म है जो 'दण्ड' के बाद 'त्व' जोड़ देने से

प्राप्त हुआ है उस) से और (२) 'संयोग सम्बन्ध' से जिससे दण्ड दण्डी से जुड़ा हुआ है। अब 'दण्डत्व' दण्ड में 'समवाय' सम्बन्ध से रहता है इसलिए 'समवाय सम्बन्ध' दण्डत्व में विद्यमान अवच्छेदकता की अवच्छेदकता का अवच्छेदक सम्बन्ध है। यहाँ पर दण्डत्व में स्थित अवच्छेदकता का अवच्छेदक केवल 'समवाय सम्बन्ध' ही है परन्तु दण्डत्व में विद्यमान अवच्छेदकता का कोई अवच्छेदक धर्म नहीं है क्योंकि 'दण्डत्व' में कोई धर्म विशेषण रूप में भासमान नहीं होता है। यह इसलिए कि 'दण्डत्व' ('दण्डी नास्ति' इस वाक्य में) शब्द से अभिव्यक्त नहीं है। इसलिए, चूँकि 'दण्डत्व' में स्थित अवच्छेदकता का अवच्छेदक कोई धर्म नहीं है, उसे 'निरवच्छिन्न' कहा गया है।

हमने 'दण्डी नास्ति' इस वाक्य में, अभाव का 'अनुयोगी' बता कर इसका अर्थ पूरा करने के लिए एक शब्द जोड़ा है— 'गृहे'। इस प्रकार गृह में अनुयोगिता है जो 'गृहत्व' से अवच्छिन्न है। चूँकि 'दण्डी' 'गृह' में संयोग सम्बन्ध से नहीं है इसलिए संयोग सम्बन्ध दण्डी में स्थित प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। वस्तुतः हमने इन सारी बातों की चर्चा पहले ही की है अतः यहाँ पुनः विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर केवल एक ही बिन्दु ध्यान में रखना आवश्यक है कि, अभाव और (उसकी) प्रतियोगिता; प्रतियोगिता और प्रतियोगिता-अवच्छेदकता; प्रतियोगिता-अवच्छेदकता और प्रतियोगिता-अवच्छेदकता-अवच्छेदकता इन जोड़ियों के बीच निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है क्योंकि ये सब जोड़ी-धर्म हैं और इसी कारण एक दूसरे को निरूपित करते हैं। यह बात हमारे 'गृहे दण्डी नास्ति' के चित्र में स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इस चित्र को समझ लेने के पश्चात् हमारे लेखक ने इस वाक्य का नव्यन्याय की भाषा में जो अर्थ बताया है उसे समझना कतई कठिन नहीं होगा।

ग्रन्थ ४०

येन सम्बन्धेन यत् साध्यते, यत् क्रियते, यद् विधीयते, यो हेतुः, यत् कारणम्, यश्च प्रकारो भवति स सम्बन्धः तन्निष्ठ-साध्यता-कार्यता-विधेयता-हेतुता-कारणता-प्रकारतानामवच्छेदको भवति। 'सुन्दरो नरः' इत्यादौ नरस्य केवलं विशेष्यतयैव प्रतीतिः तस्य सम्बन्धः न कुत्रापि बोध्यत इति धर्मीगता

अधिकरणता-अनुयोगिता-विशेष्यता-पक्षतादयः सापेक्षधर्माः न केनापि सम्बन्धेन अवच्छिन्नाः, केवलं धर्मेणैव ते अवच्छिन्ना इति।

हिन्दी अनुवाद

जिस सम्बन्ध से जो (साध्य पदार्थ) सिद्ध किया जाता है, जो (कुछ) किया जाता है, जिसका विधान किया जाता है, जो हेतु होता है, जो कारण होता है, जो प्रकार (अर्थात् किसी विशिष्ट सन्दर्भ में विशेषण को प्रकार कहते हैं) होता है वह (सम्बन्ध) साध्यता, कार्यता, विधेयता, हेतुता, कारणता, अथवा प्रकारता का अवच्छेदक होता है।

'सुन्दरः नरः' (अर्थात् सुन्दर मनुष्य) इस वाक्य में 'नर' केवल 'विशेष्य' रूप में प्रतीत होता है, उसका किसी के साथ सम्बन्ध भासमान नहीं है इसलिए (इस) धर्मी (अर्थात् विशेष्य) में जो भी अधिकरणता अनुयोगिता, विशेष्यता, पक्षता इत्यादि सापेक्ष (नैमित्तिक) धर्म हैं वो सारे किसी सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं हैं किन्तु केवल (समवेत) धर्म से ही अवच्छिन्न हैं।

टिप्पणी

किसी को यदि नव्य-न्याय की पद्धति को संक्षेप में ग्रहण करना है तो इस ग्रन्थ को मन्त्र की तरह ध्यान में रखना होगा। हमारे लेखक ने इसे यहाँ पर सठीक रूप से बताया है। और एक बिन्दु की ओर ध्यान देना होगा। वह बिन्दु यह है कि नव्य-न्याय में केवल वह वाक्य ही महत्त्वपूर्ण है जिसकी चर्चा हो रही है। हर एक वाक्य में किसी न किसी वस्तुस्थिति का प्रतिबिम्ब होता है। इसलिए यदि वाक्य में से उल्लिखित विशेष्य का सम्बन्ध दूसरी किसी वस्तु से प्रतीत नहीं होता है, तो पाठक को वाक्य को समझते समय इसके विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार, वाक्य और वस्तुस्थिति का सम्बन्ध १:१ है। पूर्वमीमांसा तथा न्यायदर्शन का यह योगदान है।

इस प्रकार हमारे लेखक ने स्पष्ट किया है कि यदि वाक्य में केवल 'सुन्दर मनुष्य' इतना ही कहा गया है तो 'मनुष्य' अर्थात् विशेष्य में जो भी 'नैमित्तिक धर्म' किसी विशिष्ट सन्दर्भ में आएंगे वो सभी विशेष्य में रहने वाले 'समवेत धर्म' से

अवच्छिन्न होंगे। यहाँ पर किसी 'सम्बन्ध' की बात ही नहीं होगी क्योंकि वाक्य में उसका उल्लेख नहीं है।

इस ग्रन्थ में 'नैमित्तिक धर्म' के लिए लेखक ने 'सापेक्ष धर्म' इस दूसरी संज्ञा का उपयोजन किया है। 'सापेक्ष' अर्थात् (दूसरे की) अपेक्षा रखने वाला। यह 'जोड़ी धर्म' होने के कारण सर्वदा, जिस दूसरे धर्म से यह सम्बद्ध होता है, उसकी अपेक्षा रखता है।

ग्रन्थ ४१

यो धर्मः साध्यादौ विशेषणतया प्रतीयते, स धर्मः साध्यतादीनामवच्छेदको भवति। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' इत्यत्रानुमाने पर्वते पक्षे धूमेन हेतुना वह्निः संयोगसम्बन्धेन साध्यते इति यथाक्रमं पर्वतत्वं पक्षतावच्छेदकम्, धूमत्वं हेतुता-अवच्छेदकम्, वह्नित्वं साध्यतावच्छेदकम्, संयोगश्च साध्यतावच्छेदकः सम्बन्धः, हेतुरपि संयोग-सम्बन्धेनैव कृत इति हेतुतावच्छेदक-सम्बन्धोऽपि संयोग एव।

हिन्दी अनुवाद

साध्य इत्यादि में जो धर्म विशेषण रूप में प्रतीत होता है वह (धर्म) साध्यता इत्यादि का अवच्छेदक होता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्, धूमात्' (अर्थात् पहाड़ पर अग्नि है क्योंकि (वहाँ) धुआँ है) इस अनुमान में पर्वत रूप 'पक्ष' पर धूम रूप हेतु द्वारा संयोग सम्बन्ध से वह्नि सिद्ध किया गया है इसलिए यथाक्रम पर्वतत्व 'पक्षता' का अवच्छेदक है, 'धूमत्व' (धूम में विद्यमान) 'हेतुता' का अवच्छेदक है, वह्नित्व 'साध्यता' का अवच्छेदक है, तथा 'संयोग' साध्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध है। हेतु भी संयोग सम्बन्ध से ही है इसलिए हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध भी संयोग ही है।

टिप्पणी

यह ग्रन्थ पहले बताए गए मन्त्र का उत्तरार्ध है जो कि सर्वदा ध्यान में रखना आवश्यक है। यह दो ग्रन्थ यदि ध्यान में रहें तो नव्यन्याय की भाषा की कुञ्जी ही अवगत हो जाए। हमें यह कुञ्जी अवगत हो गयी है इसलिए हमे इस ग्रन्थ का

विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। हम बस एक सरल से चित्र के द्वारा इस मन्त्र को ध्यान में रखते है। इस चित्र में यह दिखाया गया है कि, किसी भी विशेष्य में, जब किसी विशिष्ट निमित्त से अथवा किसी विशेष संदर्भ में कोई 'सापेक्ष धर्म' आ जाता है, तब उस विशेष्य में विशेषणरूप से विद्यमान 'समवेत धर्म' उसका (अर्थात् उस 'सापेक्ष धर्म' का) अवच्छेदक होता है तथा विशेष्य अपने आधार पर जिस सम्बन्ध से रहता है वह सम्बन्ध उसका (सापेक्ष धर्म का) अवच्छेदक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार 'सापेक्ष धर्म' के विषय में किया हुआ विधान सठीक हो जाता है।
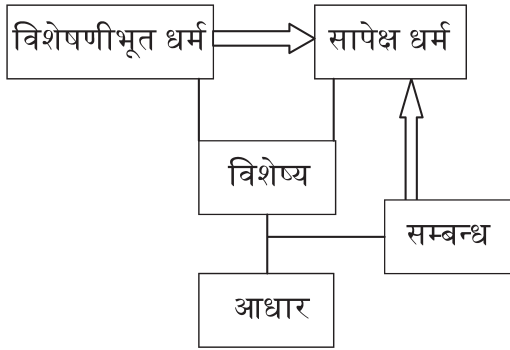
यह चित्र हमारे दर्शन की पद्धति (तकनीक) का मौलिक चित्र है। इसे इस रूप में ध्यान में रखने से, 'अवच्छेदक' तथा 'अवच्छिन्न' इन दो संज्ञाओ से युक्त नव्यन्याय का कोई भी विधान समझ में आना सरल होगा। ऊपर वाले इस चित्र में जहाँ दो रेखाओं वाले तीर का आरम्भ है वह 'अवच्छेदक' है तथा इस तीर की नोंक पर 'अवच्छिन्न' है।

ग्रन्थ ४२

यत्र साध्यतावच्छेदको धर्मः सखण्डः तत्र साध्यता-अवच्छेदक-अवच्छेदकोऽपि अस्ति, यथा— 'शतायुरपि अयं वृद्धः मरिष्यति, मनुष्यत्वात्,' इत्यनुमाने मरणं साध्यम्, मरणत्वञ्च साध्यतावच्छेदकम्। मरणं च श्वास-प्रश्वास-विरामत्वरूपम्, मरणत्वं सखण्डोपाधिः धर्मः। ततश्च मरणत्वत्वेन धर्मेण मरणत्वमत्र विशेषणीभूतमिति मरणत्वत्वं साध्यता-

अवच्छेदकता-अवच्छेदकम्। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

हिन्दी अनुवाद

जब साध्यता का अवच्छेदक धर्म (अखण्ड न होकर) सखण्ड (अर्थात् खण्डों सहित) होता है तब (उसे भी नियमित करने वाला) साध्यता के अवच्छेदक का भी अवच्छेदक होता है। जैसे 'शतायुषि होनेपर भी यह वृद्ध (व्यक्ति) मरने वाला है' क्योंकि यह मनुष्य है, इस अनुमान में 'साध्य' है 'मरण' और साध्यतावच्छेदक है 'मरणत्व'। (मरण क्या है?) मरण होता है श्वास और निःश्वास का विराम अर्थात् रुक जाना। 'मरणत्व' एक सखण्ड उपाधि (रूप) धर्म है। इसलिए 'मरणत्वत्व' धर्म से 'मरणत्व' (मरण का) विशेषण बना है इस हेतु 'मरणत्वत्व' साध्यता के अवच्छेदक का अवच्छेदक है। इसी प्रकार दूसरे रे स्थानों पर भी समझना चाहिए।

टिप्पणी

यहाँ पर एक ही बिन्दु की चर्चा की गई है कि यदि जो धर्म अवच्छेदक होता है वह सखण्ड हो अर्थात् खण्डों वाला हो तब उसमें होने वाली अवच्छेदकता का भी अवच्छेदक होता है। यह केवल इसलिए कि 'अवच्छेदक-धर्म' स-खण्ड है। लेखक ने जो उदाहरण दिया है उससे यह बात अधिक स्पष्ट होगी। यह एक अनुमान का उदाहरण है। यहाँ पर वृद्ध का 'मरण' साध्य है तथा इसका हेतु है 'मनुष्यत्व' अर्थात् उसका मनुष्य होना। सारे मनुष्य 'मर्त्य' हैं इसलिए यह वृद्ध व्यक्ति (यद्यपि वह शतायुषी है तथापि एक दिन) मरने वाला है। हमारे लेखक कहते हैं, यहाँ पर (वृद्ध का मरण) 'साध्य' है, साध्य में स्थित 'सापेक्ष धर्म' 'साध्यता' का अवच्छेदक है 'मरणत्व'। परन्तु मरण का लक्षण करना सम्भव है जिसके कारण मरणत्व एक सखण्ड-उपाधि रूप धर्म है। इस उदाहरण का चित्र बनाने का प्रयास करते हैं—
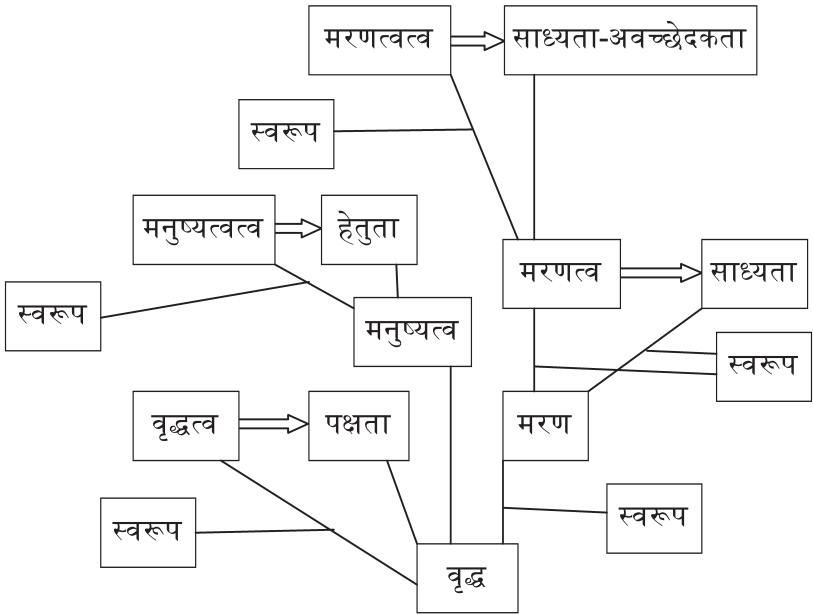
ग्रन्थ ४३

अवच्छेदकपदस्य क्वचिद् विशेषणम् इत्यर्थः। अवच्छिन्नपदस्य च विशिष्टम्, आश्रय इत्यर्थोऽपि भवति। 'अवच्छेदकत्व-मात्रेणान्वयः' इत्यत्र अवच्छेदकत्वपदस्य विशेषणत्वमर्थः। 'वह्नित्वावच्छिन्नस्य यस्य कस्यापि' इत्यत्र 'वह्नित्वाश्रयस्य' इत्यर्थो बोध्यते।

हिन्दी अनुवाद

कभी कभी 'अवच्छेदक' पद का अर्थ होता है 'विशेषण' और 'अवच्छिन्न' पद का 'विशिष्ट' अथवा 'आश्रय' भी अर्थ होता है। 'अवच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः' इस वाक्य में 'अवच्छेदक' पद का विशेषण अर्थ है। 'वह्नित्वावाच्छिन्नस्य यस्य कस्यापि' इस वाक्य में (वह्नित्व से 'अवच्छिन्न' का) 'वह्नित्व के आश्रय' का यह बोध होता है।

टिप्पणी

अब तक हमने 'अवच्छेदक' तथा 'अवच्छिन्न' इन दो संज्ञाओं का अर्थ क्या है, उनका महत्त्व क्या है इसके बारे में पूरी चर्चा की है। इससे इन दो संज्ञाओं से हमारा अच्छा परिचय भी हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक यह कहना चाहते हैं कि कभी कभी 'अवच्छेदक' का अर्थ (केवल) विशेषण भी होता है तथा 'अवच्छिन्न' का अर्थ होता है विशिष्ट अथवा आश्रय। उदाहरण के लिए यदि वाक्य है 'अवच्छेदकमात्रेण अन्वयः' तो इसका अर्थ होगा— 'इसका अन्वय केवल विशेषण-रूप में (होना चाहिए)' और यदि वाक्य में कहा गया है, 'वह्नित्व-अवच्छिन्नस्य यस्य कस्यापि' तो इसका अर्थ होगा ' वह्नित्व के किसी भी आश्रय का अर्थात् किसी भी वह्नि का'। इस प्रकार, पहले उदाहरण में 'अवच्छेदक' का अर्थ केवल विशेषण ही है। इसके पीछे क्या कारण होगा यह समझना कठिन नहीं है। लेखक ने यह पूरी तरह स्पष्ट किया है कि वस्तु का जो विशेषणीभूत धर्म होता है, अर्थात् वस्तु का जो समवेत धर्म होता है वही उस वस्तु में स्थित नैमित्तिक धर्म का अवच्छेदक अर्थात् नियामक होता है। चूँकि अवच्छेदक (धर्म) हमेशा विशेषण ही होता है, इसलिए कभी कभी 'विशेषण' के अर्थ में भी उसका प्रयोग किया जाता है।

दूसरे उदाहरण में 'अवच्छिन्न' इस संज्ञा का अर्थ है आश्रय अर्थात् आधार। इसका सम्बन्ध पहले उदाहरण से है। यदि 'अवच्छेदक' का अर्थ 'विशेषण' होगा तो 'अवच्छिन्न' का अर्थ 'विशिष्ट' अर्थात् 'विशेष्य' ही होगा। हमारे लेखक ने जब कहा है कि इसका अर्थ आश्रय या आधार है तब इसका यही अर्थ है कि वह विशेषणविशिष्ट अर्थात् विशेष्य है। चूँकि 'विशिष्ट' हमेशा विशेषण का आधार ही होता है, लेखक ने कहा है कि 'अवच्छिन्न' का अर्थ है आधार। जैसे 'वह्नित्व-अवच्छिन्नस्य यस्य कस्यापि' इस वाक्यांश में आए हुए 'अवच्छिन्न' पद का अर्थ है विशिष्ट अर्थात् आश्रय। अतः अर्थ हुआ— वह्नित्व का कोई भी आश्रय अर्थात् कोई भी वह्नि (अग्नि)। इस पूरी चर्चा का तात्पर्य यह है कि 'अवच्छेदक' और 'अवच्छिन्न' ये दो संज्ञाएँ हमेशा 'नियामक' और 'नियमित' इन दो अर्थों में ही प्रयुक्त नहीं होती हैं कभी कभी उनके अर्थ यथाक्रम से 'विशेषण' और 'विशिष्ट' (अर्थात् 'आश्रय') भी होते हैं। जब ये संज्ञाएँ इन अर्थों में प्रयुक्त होती हैं तब उनका सरल सा चित्र होगा—
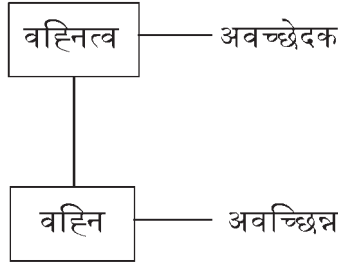
ग्रन्थ ४४

ज्ञानं द्विविधम्— निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। निः नास्ति विकल्पः विशेष्य-विशेषण-भावः, विशेष्यविशेषणयोः सम्बन्धो वा यस्मिन् तत् निर्विकल्पकम्। निर्विकल्पके हि ज्ञाने केवलं धर्मधर्मिणोः पटत्वपटयोः परस्परम् असंसृष्टयोः (पट-पटत्वे इत्याकारकं) भानं (प्रकाशः) भवति। न तु तयोः सम्बन्धस्यापि भानम्। विषय-इन्द्रिय-सन्निकर्षे सति जायमानं प्राथमिकं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं भवति।

हिन्दी अनुवाद

ज्ञान के दो प्रकार हैं— निर्विकल्पक और सविकल्पक। निः का अर्थ है नहीं, अर्थात् जिसमें विकल्प या विशेष्य-विशेषण-भाव अर्थात् विशेष्य और विशेषण का सम्बन्ध नहीं होता है वह निर्विकल्पक (ज्ञान) होता है। क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में धर्म और धर्मी का (जैसे) पटत्व और पट का एक दूसरे से सम्बन्ध के बिना (पट और पटत्व-रूप) ज्ञान होता है। विषय तथा इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो पहला प्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है वह निर्विकल्पक होता है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में लेखक ने प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया बताई है। प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होता है यह बताया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान का विभाजन दो प्रकारों में किया है— सविकल्पक और निर्विकल्पक। यहाँ ‘विकल्प’ का अर्थ है विशेषण और विशेष्य के बीच का सम्बन्ध। ‘विकल्प’ का अर्थ समझने के बाद निर्विकल्पक और

सविकल्पक का अर्थ सरल हो जाता है। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान में विशेषण और विशेष्य के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तथा सविकल्पक ज्ञान में वह होता है। यह ज्ञान अर्थात् सविकल्पक ज्ञान शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। जैसे 'पटः' यह सविकल्पक ज्ञान का उदाहरण है।

इस बात को और अच्छी तरह से समझने के लिए, हम, प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे होता है, इस प्रक्रिया की ओर दृष्टिक्षेप करते हैं। इस विषय की चर्चा गौतम के न्यायसूत्र १.१.४ से शुरु होती है। इस सूत्र पर न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने अपने भाष्य में विस्तार से चर्चा की है। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। जिसे प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है वह जिन्दा भी है तथा अन्यमनस्क भी नहीं है ये दो बातें यहाँ पर गृहीतक के रूप में हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जब सारी परिस्थितियाँ सामान्य हों तभी इस प्रक्रिया से ज्ञान का निर्माण होता है।

इस प्रक्रिया में इन्द्रिय और विषय का संयोग होना आवश्यक है। इस संयोग के अव्यवहितोत्तर समय में जो ज्ञान निर्माण होता है उसे लेखक ने प्रथम या प्राथमिक प्रत्यक्ष कहा है। यही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। इसे शब्दों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं। 'स्पष्ट रूप से' का अर्थ है, 'श्रोता को समझ में आए इस प्रकार से'। भाषा, वक्ता और श्रोता के बीच संवाद का माध्यम है। यह संवाद तभी पूरा होता है जब वक्ता की बात श्रोता को समझ आती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को श्रोता की समझ में आए इस प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। हम यह इसलिए कह रहे हैं कि यदि वक्ता निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को शब्दों मे कहना ही चाहे तो उसे कहना होगा— 'इदं किञ्चित्' (यह कुछ है)। इससे श्रोता को कुछ भी ज्ञान नहीं होगा। इसीलिए न्याय-सूत्रकार गौतम ने इस ज्ञान को 'अव्यपदेश्य' (अर्थात् जो शब्द में व्यक्त नहीं किया जा सकता) कहा है। इसे वैसे ही समझना सही होगा जैसा की हमने ऊपर समझने का प्रयास किया है। ऐसा ना करने से इस विषय में कुछ भ्रम पैदा होने की सम्भावना है, जैसे कि 'इदं किञ्चित्' भी तो शब्द ही हैं अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

लेखक ने वस्त्र के उदाहरण से बात को स्पष्ट किया है। हमारे दर्शन में 'पटः' इस ज्ञान का चित्र कुछ ऐसा बनेगा—
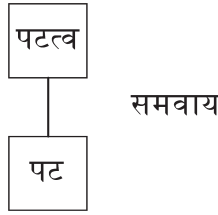
यह चित्र तभी बनेगा जब कोई कहेगा 'पटः'। आइए, और सठीक तरीके से समझते हैं— पट में विशेषण है पटत्व। इसलिए, 'पट' के शब्दबद्ध अर्थात् विशिष्ट ज्ञान में हमें 'पटत्व' जो कि विशेषण है, 'पट' जो कि 'विशिष्ट' या विशेष्य है और 'समवाय' जो कि इन दोनों के बीच का सम्बन्ध है इन तीनों का ज्ञान होता है। परन्तु यह इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष के तुरन्त बाद होने वाला ज्ञान नहीं है। इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष के तुरन्त बाद होने वाले ज्ञान में विशेषण और विशेष्य के बीच वाले सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए इस ज्ञान का यदि कोई चित्र बनाना चाहे तो वह कुछ ऐसा बनेगा—

क्ष

य

अथवा लेखक का दिया हुआ उदाहरण लेकर इस प्रकार का चित्र बनेगा—

पटत्व

पट

यहाँ पर ध्यान में रखने योग्य बिन्दु हैं—

(१) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और विषय के संयोग के तुरन्त बाद पैदा होता है।

(२) यह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

(३) (२) का कारण यह है कि इस ज्ञान में विशेषण और विशेष्य के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होने से ज्ञान का सठीक प्रारूप समझ में नहीं आता है। अतएव इस ज्ञान को शब्द में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

(४) इस प्रकार का ज्ञान दर्शन में क्यों स्वीकार किया गया है उसके पीछे एक तर्क या युक्ति है। इसकी चर्चा लेखक ने अगले ग्रन्थ में की है, अतः हम भी उसकी चर्चा वहीं करेंगे।

ग्रन्थ ४५

तत्रेदं कारणम्— विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुत्वम्। न हि अज्ञात-शुक्लरूपस्य जनस्य 'इदं शुक्लं वस्त्रम्' इति प्रतीतिर्भवति। ततश्च पटे चक्षुः-संयोगात् पूर्वं तत्समकालं वा पटत्वज्ञानस्य नियतमसम्भवात् पटत्वज्ञानं विना पटत्वस्य विशेषणतया पटे ज्ञानासम्भव इति, पटे चक्षुःसंयोगानन्तरं प्रथमं पटत्वस्य ज्ञाने जाते ततो द्वितीयेन ज्ञानेन 'अयं पट' इति पटत्वविशिष्टबुद्धिर्भवति।

हिन्दी अनुवाद

इसमें कारण यह है कि विशिष्ट ज्ञान का कारण होता है विशेषण का ज्ञान। जिस व्यक्ति को 'श्वेत रंग' क्या होता है इसका पता नही है उसे 'यह श्वेत वस्त्र है' कहने से कुछ समझ में नही आएगा। इस तरह, पट से आँखों का संयोग होने से पहले या उसके साथ (अर्थात् आँखे और पट के संयोग के साथ) पटत्व का ज्ञान होना कतई सम्भव नहीं है तथा पटत्व के ज्ञान के बिना पटत्व का पट में विशेषण रूप से ज्ञान होना असम्भव है, इसलिए पट से आँखों का संयोग होने पर पहले पटत्व का ज्ञान होता है और उसके पश्चात् 'यह पट है' ऐसा विशिष्टज्ञान होता है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में, विशिष्टज्ञान से पहले विशेषणज्ञान के होने की आवश्यकता की चर्चा की गई है। इसका कारण यह है कि यदि किसीको विशेषण का ज्ञान नहीं है तो उसे उस विशेषण से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होना असम्भव है। इसका अर्थ यह हुआ कि विशिष्टज्ञान से कम से कम एक पल पहले विशेषण का ज्ञान होना आवश्यक

है। 'श्वेत वस्त्र' के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसे इस प्रकार से समझ सकते हैं— 'श्वेत वस्त्र' एक विशिष्ट ज्ञान है। यहाँ पर विशेषण है श्वेत रंग। यदि किसी व्यक्ति को 'श्वेत रंग' क्या है इस बात का पता नहीं है तो उसे 'श्वेत वस्त्र' कहने से कुछ भी समझ नहीं आएगा। इस प्रकार जब 'वस्त्र' या 'पट' यह विशिष्टज्ञान होगा तब वहाँ पर 'पटत्व' विशेषण होगा। अब 'पटत्व' के ज्ञान के बिना 'पट' का ज्ञान होना असम्भव होने से 'पट' के ज्ञान से पहले 'पटत्व' का ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए लेखक ने समझाया है कि जब आँखो का संयोग पट से होता है तब पहले पटत्व का ज्ञान होता है और उसके बाद दूसरा ज्ञान होता है 'पटत्व-विशिष्ट-पट' का। इसका तात्पर्य यह है कि पटत्व का ज्ञान पटज्ञान के साथ अथवा उसके बाद नहीं हो सकता। इसे पटज्ञान के पूर्व ही होना चाहिए। ऐसा क्यों इसकी चर्चा हमने पहलेही की है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की जो कारण-सामग्री है तथा उसकी जो प्रक्रिया है उसे ऐसे समझते हैं—

(१) मन तथा मन का संयोग

(२) मन तथा इंद्रिय का संयोग

(३) इंद्रिय तथा अर्थ (विषय) का संयोग

(४) निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति

(५) सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति और

(६) सविकल्पक ज्ञान का ज्ञान

यहाँ पर (६) वैकल्पिक है अर्थात् यह सविकल्पक ज्ञान का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान के तुरन्त बाद भी हो सकता है या फिर कुछ समय बाद भी हो सकता है।

यह प्रक्रिया संस्कृत में इस प्रकार लिख सकते हैं—

(१) आत्मा मनसा संयुज्यते

(२) मनः इन्द्रियेण

(३) इन्द्रियम् अर्थेन

(४) निर्विकल्पकप्रत्यक्षम्

(५) सविकल्पकप्रत्यक्षम् (व्यवसायः)

(६) अनुव्यवसायः

इसी प्रक्रिया को चित्र द्वारा ध्यान में रख सकते हैं—
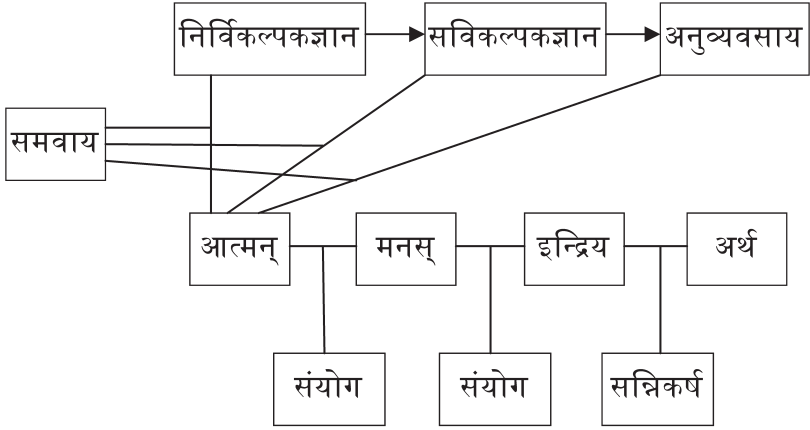
ग्रन्थ ४६

विशेष्य-विशेषण-भाव-अवगाहि-ज्ञानं सविकल्पकं (विकल्पेन सहितं) ज्ञानम्। 'अयं घटः', 'सुन्दरो नरः' इत्यादि विशिष्टज्ञानं सर्वमेव सविकल्पकम्।

द्वितीयप्रत्यक्षं सर्वमेव विशिष्टज्ञानमेव भवति। प्राथमिकेन निर्विकल्पकेन प्रत्यक्षेण अवगतस्य घटत्वादि-सामान्यस्य घटादौ विशेषणतया प्रतीतौ बाधाभावात्। तृतीयन्तु प्रत्यक्षं प्रायशो विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि भवति। यथा 'कृष्णपशुपूर्णा पशुशाला' इति। अत्र कृष्णरूपविशिष्टस्य पशोः पशुशालायां सम्बन्धो भासते। 'दण्डिपूर्णो मठ' इति ज्ञाने दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्य वैशिष्ट्यं (सम्बन्धः) मठे प्रतीयते।

हिन्दी अनुवाद

विशेष्य और विशेषण के सम्बन्ध का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान होता है। 'यह घड़ा है' 'सुन्दर मनुष्य' इत्यादि सारे विशिष्टज्ञान सविकल्पक ज्ञान हैं।

दूसरा प्रत्यक्ष सर्वदा विशिष्टज्ञान ही होता है। क्योंकि पहले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से अवगत घटत्वरूप सामान्य का घट में विशेषण रूप से ज्ञान होने में कोई

कठिनाई नहीं होती है। तीसरा प्रत्यक्ष सामान्यतः किसी विशिष्ट (विशेषण से सम्बद्ध) के (आधार से) सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जैसे 'काले पशुओं से भरी पशुशाला' (यह ज्ञान तीसरा प्रत्यक्ष है)। यहाँ पर काले रंग से विशिष्ट पशु का पशुशाला से संबंध प्रतीत होता है। 'दण्डियों से (दण्ड वाले लोगों से) भरा मठ' इस ज्ञान में दण्ड वाले पुरुष का मठ से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

टिप्पणी

हमने पहले ही देखा है कि विशेषण का ज्ञान होने के पश्चात् दूसरे क्षण ही विशिष्ट-ज्ञान होता है। इस विशिष्टज्ञान में विशेषण, विशेष्य और उन दोनों का सम्बन्ध विषय होते हैं। इस बिन्दु को लेखक ने 'यह घड़ा है' और 'सुन्दर मनुष्य' इन दो उदाहरणों से समझाया है। संक्षेप में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी ज्ञान जो शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है वह विशिष्ट ज्ञान होता है क्योंकि जबतक विशेषण रूप धर्म, विशेष्य तथा उन दोनों के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान ना हो, उस वस्तु को उसका नाम नहीं दिया जा सकता और जब तक उसे नाम प्राप्त नहीं होता है, उसके बारे में बात करना भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए यदि कोई किसी वस्तु के बारे में बात करता है तो उसे विशिष्ट ज्ञान हुआ है यह कहा जा सकता है। इस 'विशिष्ट-ज्ञान' के लिए संस्कृत में दो और नाम हैं—

(१) सविकल्पक ज्ञान और

(२) व्यवसाय।

हमारे लेखक ने कहा है कि 'प्रत्येक दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान विशिष्ट ज्ञान होता है'। हमने प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया देखी है। उसमें पाँचवे पायदान पर विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे तुरन्त पहले अर्थात् चौथे पायदान पर 'विशेषण का ज्ञान' अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जो शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। 'विशिष्ट ज्ञान' को 'दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा गया है और 'विशेषण के ज्ञान' को 'पहला प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा गया है। इस प्रकार 'अनुव्यवसाय' को 'तीसरा प्रत्यक्ष ज्ञान' कहना उचित होगा। यह 'दूसरे प्रत्यक्ष ज्ञान' का ज्ञान होता है परन्तु हमारे लेखक ने ऐसा ना मानते हुए 'तीसरा प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा है उस ज्ञान को जिसमें 'विशिष्ट ज्ञान के विषय का अपने आधार से सम्बन्ध' प्रतीत होता हो। इसलिए

उन्होंने उदाहरण दिया है 'काले पशुओं से भरी पशुशाला' का। इसका स्पष्टीकरण यह है कि, 'काला पशु' एक 'विशिष्ट ज्ञान' है और उसका विषय एक 'विशिष्ट वस्तु' अर्थात् 'काला पशु' है। इस 'विशिष्ट वस्तु' का पशुशाला से जो सम्बन्ध है वही 'काले पशुओं से पूर्ण पशुशाला' इस ज्ञान से प्रतीत होता है।

इस प्रकार हमारे लेखक के मतानुसार जब प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक सारे कारण उपस्थित हों तब 'पहला प्रत्यक्ष ज्ञान' होता है 'विशेषण का ज्ञान' (जो विशिष्ट ज्ञान से पूर्व होना आवश्यक है) 'दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान' है 'विशिष्ट ज्ञान' और 'तीसरा प्रत्यक्ष ज्ञान' है 'विशिष्ट ज्ञान' का 'विशिष्ट ज्ञान'। हम इनको चित्रों के माध्यम से भी ध्यान में रख सकते हैं—

(१) प्रथम प्रत्यक्ष निर्विकल्पक—

कृष्णरूप

पशु

(२) द्वितीय प्रत्यक्ष सविकल्पक—
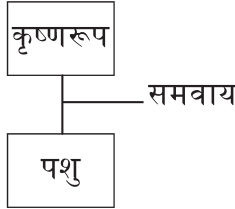
(३) तृतीय प्रत्यक्ष विशिष्ट-वैशिष्ट्य-अवगाहि-ज्ञान —
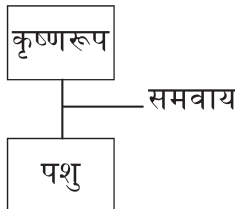
ग्रन्थ ४७

विशिष्टज्ञाने एकं विशेष्यम् अपरं विशेषणं भवति। विशेष्यस्यैव उद्देश्यमिति नामान्तरम्। विशेषणस्य प्रकार इति। यथा 'सुन्दरो नर' इत्यत्र नरः विशेष्यः सौन्दर्यं प्रकारः, विशेष्ये प्रकारे च यद् विशेषणतया प्रतीयते तद् यथाक्रमं विशेष्यतावच्छेदकं प्रकारतावच्छेदकं च भवति। यथा, 'मृन्मयोऽयं गिरिः आश्विने मासि मनोहर-पुष्प-समृद्धो भवति' इत्यादौ गिरौ विशेष्ये मृत्तिका गिरित्वं च विशेष्यतावच्छेदकम्। मृत्तिकात्वं तु विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकम्। एवं मनोहर-पुष्प-समृद्धौ प्रकारे मनोहरपुष्पं विशेषणं तत्र च मनोहरत्वं पुष्पत्वं च विशेषणतया प्रतीयत इति पुष्पं प्रकारतावच्छेदकं, मनोहरत्वं पुष्पत्वञ्च उभयमेव प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदकम्।

हिन्दी अनुवाद

विशिष्ट ज्ञान में एक विशेष्य होता है और दूसरा विशेषण होता है। विशेष्य का ही दूसरा नाम है उद्देश्य और विशेषण का प्रकार। जैसे 'सुन्दर मनुष्य' इस ज्ञान में 'मनुष्य' 'विशेष्य' है, 'सौन्दर्य' 'प्रकार' है तथा विशेष्य और प्रकार में जो (धर्म) विशेषण रूप से प्रतीत होते हैं वे यथाक्रम से विशेष्यतावच्छेदक और प्रकारतावच्छेदक होते हैं। जैसे 'मिट्टी का बना यह पहाड़ अश्विन महीने में सुन्दर फूलों से समृद्ध होता है' इसमें गिरि (पहाड़) रूप विशेष्य में मृत्तिका (मिट्टी) तथा गिरित्व विशेष्यतावच्छेदक हैं और मृत्तिकत्व विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदक है। मनोहर-पुष्प-समृद्धि-रूप प्रकार में मनोहर-पुष्प विशेषण है और उसमें मनोहरत्व और पुष्पत्व दोनों प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं इसलिए पुष्प प्रकारतावच्छेदक है और मनोहरत्व और पुष्पत्व दोनों ही प्रकारतावच्छेदकतावच्छेदक हैं।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में लेखक ने विशिष्ट ज्ञान की सङ्कल्पना को और अच्छी तरह समझाया है। पुनः एक बार आरंभ से समझाते हुए लेखक कहते हैं की विशिष्ट ज्ञान में एक विशेष्य तथा एक विशेषण होता है। उन्होंने इन दो संज्ञाओं की समानार्थक

और दो संज्ञाए बताई हैं— उद्देश्य तथा प्रकार। 'सुन्दर मनुष्य' यह उदाहरण लेकर उन्होंने स्पष्ट किया है कि इसमें सौन्दर्य अर्थात् 'सुन्दरता' प्रकार है तथा मनुष्य है विशेष्य अर्थात् उद्देश्य। अब प्रकारता तथा विशेष्यता के अवच्छेदक क्या होंगे यह हम जानते ही हैं क्योंकि इस बात की चर्चा हमने विस्तार से की है। तथापि लेखक ने पुनः बताया है कि प्रकार में जो धर्म विशेषण रूप से प्रतीत होता है वह प्रकारता का अवच्छेदक होता है तथा जो धर्म विशेष्य में विशेषण रूप से प्रतीत होता है वह विशेष्यता का अवच्छेदक होता है। इसे इस प्रकार समझते हैं—
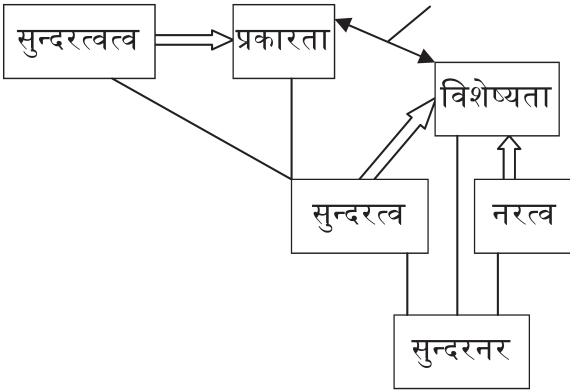
यहाँ पर विशेष्यता को उद्देश्यता भी कह सकते हैं। इन बातों को अच्छी तरह समझने के बाद लेखक ने एक बात कही है की कभी कभी अर्थात् जहाँ पर विशेषणीभूत धर्म सखण्ड हो वहाँ पर अवच्छेदकता का भी अवच्छेदक होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने उदाहरण दिया है— 'मृन्मयोऽयं गिरिः आश्विने मासि मनोहरपुष्पसमृद्धो भवति'। इसे समझने के लिए हम एक चित्र बनाते हैं—
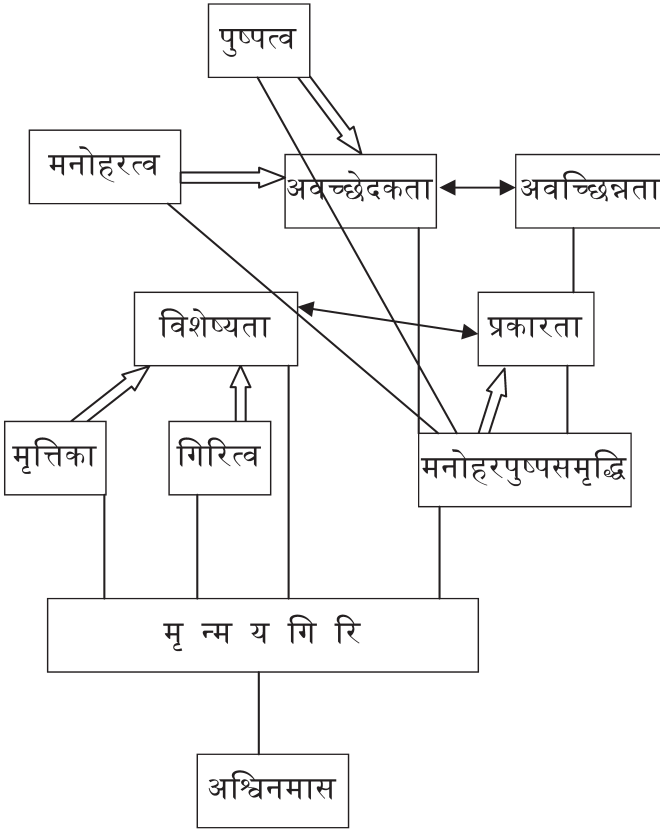
इस चित्र से यह स्पष्ट है कि, मृन्मयगिरि विशेष्य है इसलिए उसमें 'विशेष्यता' नामक नैमित्तिक धर्म है। इस गिरि में बहुत सारे सुन्दर पुष्प (फूल) हैं जो प्रकार है और उनमें प्रकारता है। इन दोनों में अर्थात् विशेष्यता और प्रकारता में निरूप्य-निरूपक-भाव-सम्बन्ध है क्योंकि ये एक दूसरे का निरूपण (वर्णन) करते हैं। चूँकि 'समृद्धि' में सुन्दर फूल (मनोहर पुष्प) विशेषण है यह समृद्धि में विद्यमान प्रकारता का अवच्छेदक है। मनोहर पुष्प में भी मनोहरत्व और पुष्पत्व ये दो विशेषण हैं अतः ये दोनों मनोहर पुष्प में विद्यमान अवच्छेदकता के अवच्छेदक हैं।

इस चित्र को नव्यन्याय की भाषा में पढ़ने से कुछ इस प्रकार का वाक्य बनेगा—
मनोहरपुष्पावच्छिन्न-मनोहरत्व-पुष्पत्वावच्छिन्न-अवच्छेदकता-निरूपित-

अवच्छिन्नता-रूप-प्रकारता-निरूपित-मृत्तिका-गिरित्वावच्छिन्न-विशेष्यतावान् आश्विनमासवृत्तिः मृन्मयगिरिः।

ग्रन्थ ४८

विशेष्ये विशेष्यता प्रकारे च प्रकारता वर्तते। ते च परस्परं निरूप्य-निरूपक-भावापन्ने। विशेष्यता-निरूपिता प्रकारता भवति, प्रकारता-निरूपिता च विशेष्यतेति, एवं प्रकारता विशेष्यनिरूपिता भवति, विशेष्यता च प्रकार-निरूपिता भवति। एतत्सर्वं वृत्तितावर्णनास्थले उक्तप्रायमेव।

हिन्दी अनुवाद

विशेष्य में विशेष्यता होती है और प्रकार में प्रकारता होती है। ये दोनों एक दूसरे से निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध से जुड़ी होती हैं। विशेष्यता से प्रकारता निरूपित होती है और प्रकारता से विशेष्यता निरूपित होती है। इसी प्रकार प्रकारता विशेष्य से निरूपित होती है और विशेष्यता प्रकार से निरूपित होती है। वृत्तिता का वर्णन करते समय यह सब बताया गया ही है।

टिप्पणी

अब निरूप्य-निरूपक-भाव संबंध को हमने अच्छी तरह समझ लिया है, इसलिए इस पर और चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। एक बार हम कुछ चित्रों को फिर से देख लेते हैं—

१)
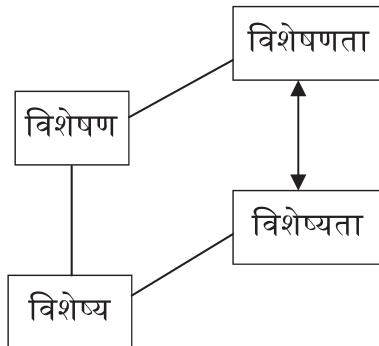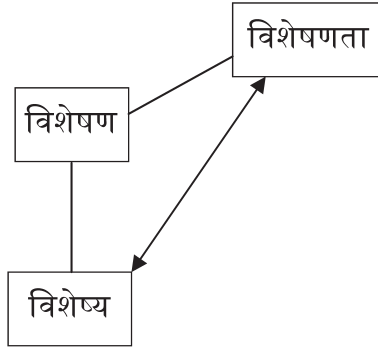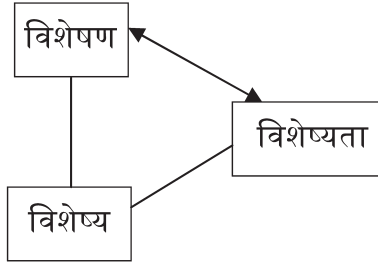
इनमें से पहला चित्र विशेष्य और विशेषण के बीच जो निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बन्ध है उसके ज्ञान का पूर्ण रूप दर्शाता है तथा दूसरा और तीसरा चित्र उसके संक्षिप्त रूप दर्शाते हैं।

यह सारी चर्चा वृत्तिता या आधाराधेयभाव की चर्चा करते समय पहले ही की गई है।

ग्रन्थ ४९

विशेषणं द्विविधम्— सिद्धं साध्यं च। सिद्धं पूर्वावगतं विशेषणं विशेष्यस्य इतरेभ्यो व्यावर्तनाय विशेष्यान्तरा प्रयुज्यते। साध्यञ्च पूर्वमप्राप्तं प्राधान्येन विधीयते। साध्यस्य विधेयमिति नाम। यथा, 'दयादाक्षिण्यादिगुणैरलङ्कृतो जनकानुरक्तोऽयं रामः सर्वैः नमस्य' इत्यत्र

विशेष्यस्य रामस्य दयादाक्षिण्यादिगुणैरलङ्कृतत्वं जनकानुरक्तत्वं च पूर्वावगतमिति सिद्धं विशेषणम् इतरव्यावर्तनाय विशेष्यमध्ये प्रयुक्तम्। नमस्यत्वन्तु पूर्वमसिद्धमिति विधीयते।

हिन्दी अनुवाद

विशेषण दो प्रकार के होते हैं— सिद्ध तथा साध्य। सिद्ध विशेषण पहले से ज्ञात होता है। उसकी योजना (वाक्य में) विशेष्य को इतरों से भिन्न बताने के लिए की जाती है। साध्य विशेषण पहले से जाना हुआ नहीं होता है, उसका मुख्य रूप से विधान किया जाता है। 'साध्य' (विशेषण) का (दूसरा) नाम है 'विधेय'। जैसे— 'दया, दाक्षिण्य इत्यादि गुणों से मण्डित, पितृभक्त राम सब का पूजनीय है' इसमें विशेष्य राम में 'दया-दाक्षिण्यादि गुणों से मण्डित' तथा 'पितृभक्त' ये दोनों विशेषण पहले से ज्ञात होने से दूसरों से (राम को) भिन्न बताने के लिए विशेष्य (राम) में प्रयुक्त हैं। परन्तु 'पूजनीयत्व' पहले से अवगत न होने से (उसका यहाँ) विधान किया गया है।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में, विशेषण के 'सिद्ध' अर्थात् पहले से ज्ञात तथा 'साध्य' अर्थात् पहले से अज्ञात ये दो भेद बताए गए हैं। 'विशेषण' का काम होता है विशेष्य को दूसरों से अलग कर के बताना। इसके लिए उसका पहले से ज्ञान होना आवश्यक है। क्योंकि विशेषण यदि ज्ञात नहीं है, तो वह जिसे ज्ञात नहीं है उस व्यक्ति के लिए, विशेष्य को दूसरों से अलग नहीं बता सकता है। इसलिए यह 'सिद्ध विशेषण' का ही काम है की विशेष्य को दूसरों से भिन्न बताए। लेखक द्वारा दिए गए उदाहरण में 'राम' के पहले दो विशेषण 'सिद्ध' अर्थात् पहले से ज्ञात हैं तथा अन्तिम विशेषण 'साध्य' है अर्थात् विशेष्य में उसका विधान किया गया है।
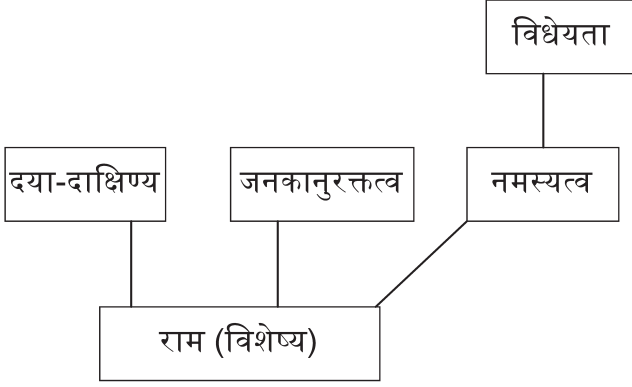
ग्रन्थ ५०

विधेयस्य विधानं च क्वचित् विशेष्यतावच्छेदक-सामानाधिकरण्येन, क्वचिच्च विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन भवति। यस्मिन् कस्मिन्नपि विशेष्ये यद् विधानं तत् विशेष्यतावच्छेदक-सामानाधिकरण्येन (विशेष्यता-अवच्छेदकस्य समाने एकस्मिन् अधिकरणे) वृत्तितया विधानम्। यथा— 'ब्राह्मणो विद्वान् भवति' इत्येनेन न सर्व एव ब्राह्मणाः विद्वांसो भवन्तीति विधीयते, किन्तु यत्र यत्र ब्राह्मण्यं वर्तते तेषां मध्ये केषुचित् विद्या वर्तत इति। यत्र यत्र विशेष्यतावच्छेदकं वर्तते, तत्र सर्वत्रैव (अर्थात् सर्वस्मिन्नेव विशेष्ये) विधेयस्य विधानं विशेष्यतावच्छेदकावच्छेदेन (विशेष्यतावच्छेदकस्य अवच्छेदेन व्याप्त्या) विधानम्। यथा 'मनुष्यो मरणशीलः' इत्यनेन न केषुचित् मनुष्येषु मरणशीलत्वं विधीयते, किन्तु सर्वेष्वेव मनुष्येषु। मनुष्यत्वं व्याप्य सर्वेष्वेव मनुष्येषु मरणशीलत्वं विधीयते इति।

हिन्दी अनुवाद

विधेय का विधान कभी विशेष्यता-अवच्छेदक-सामानाधिकरण्य से (अर्थात् विशेष्यता का अवच्छेदक जहाँ रहता है उसके साथ उसी अधिकरण में) और कभी कभी विशेष्यता-अवच्छेदक-अवच्छेद से (अर्थात् विशेष्यता के अवच्छेदक के साथ सर्वत्र अर्थात् सभी अधिकरणों में) होता है। जैसे 'ब्राह्मण विद्वान् होता है कहने

से सभी ब्राह्मण विद्वान् होते हैं यह नहीं कहा गया है अपितु जहाँ जहाँ ब्राह्मणत्व होता है उनमें से कुछ में विद्या होती है यह (कहा गया है)। जहाँ जहाँ विशेष्यता का अवच्छेदक होता है वहाँ सर्वत्र (अर्थात् सभी विशेष्यों में) विधेय का विधान ही विशेष्यतावच्छेदकावच्छेद से विधान कहा जाता है (अर्थात् जहाँ भी विशेष्यता का अवच्छेदक होता है उसके साथ सभी स्थानों में अर्थात् सम-व्याप्ति से विधान होता है)। जैसे 'मनुष्य मर्त्य है' कहने से कुछ ही मनुष्यों में मरणशीलत्व का विधान नहीं किया गया है किन्तु सभी मनुष्यों में (किया गया है)। समूचे मनुष्यत्व को व्याप्त कर के मरणशीलत्व का विधान किया गया है।

टिप्पणी

विधेय का विधान

इससे पहले लेखक ने कहा है कि जो विशेषण पहले ज्ञात नहीं होता है, वाक्य में उसका विधान किया जाता है। इस ग्रन्थ में लेखक विधान करने की दो विधाएँ बता रहे हैं—

(१) विशेष्यता-अवच्छेदक के साथ ही अधिकरण में रहने से (अर्थात् कहीं कहीं) तथा

(२) विशेष्यता अवच्छेदक के साथ समव्याप्त होकर अर्थात् जहाँ जहाँ विशेष्यता का अवच्छेदक रहता है ऐसे प्रत्येक अधिकरण में रहने से।

पहले प्रकार का उदाहरण है— 'ब्राह्मण विद्वान होता है' और दूसरे प्रकार का उदाहरण है —'मनुष्य मर्त्य है'। पहले उदाहरण में यह कहा गया है कि, ब्राह्मण में जो विशेष्यता-अवच्छेदक अर्थात् ब्राह्मणत्व उसके साथ कभी कभी (अर्थात् कुछ ब्राह्मणों में) विद्या होती है। दूसरे उदाहरण में यह कहा गया है कि विशेष्यता-अवच्छेदक जो मनुष्यत्व है उसके साथ मरणशीलत्व समव्याप्त है अर्थात् जहाँ जहाँ मनुष्यत्व है वहाँ उसके प्रत्येक अधिकरण में मरणशीलत्व है। इसीको चित्रों द्वारा ध्यान में रखते हैं—

१)
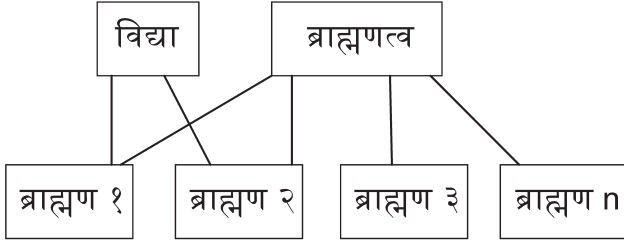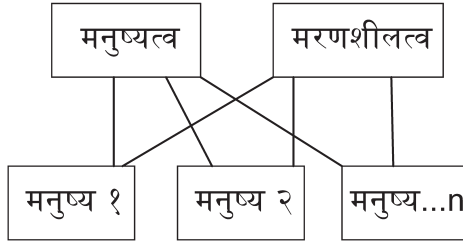
ग्रन्थ ५१

विधेये मुख्यप्रकारता तिष्ठति। मुख्यप्रकारता-निरूपिता विशेष्यता च मुख्य-विशेष्यता भवति। विधेयभिन्ने या प्रकारता सा न मुख्या। एवं या च विशेष्यता मुख्यप्रकारता-निरूपिता न भवति सापि न मुख्यविशेष्यता। अत एव 'जनकानुरक्तोऽयं रामः पूज्य' इत्यत्र पूज्यत्व-रूप-विधेयनिष्ठा प्रकारता मुख्या तन्निरूपितैव च रामनिष्ठा विशेष्यता मुख्या। जनकानुरक्तत्वरूपविशेषणनिष्ठा च प्रकारता न मुख्या, सुतरां तन्निरूपिता रामनिष्ठा विशेष्यताऽपि न मुख्या।

हिन्दी अनुवाद

विधेय (विशेषण) में मुख्यप्रकारता होती है। मुख्यप्रकारता से निरूपित (जो) विशेष्यता (होती है वही) मुख्यविशेष्यता होती है। विधेय (विशेषण) से भिन्न (विशेषण) में जो प्रकारता होती है वह मुख्य (प्रकारता) नहीं होती है। और जो विशेष्यता मुख्य-प्रकारता से निरूपित नहीं होती है वह भी मुख्यविशेष्यता नहीं

होती है। इसीलिए 'जनकानुरक्तोऽयं रामः पूज्यः' (यह पितृभक्त राम पूजनीय है) इस वाक्य में पूज्यत्व-रूप विधेय (विशेषण) में विद्यमान प्रकारता मुख्य है (प्रमुख है) और उससे निरूपित राम में विद्यमान विशेष्यता (भी) मुख्य है। जनकानुरक्तत्व-रूप विशेषण में विद्यमान प्रकारता मुख्य नहीं है इसलिए उससे निरूपित राम में विद्यमान विशेष्यता भी मुख्य नहीं है।

टिप्पणी

यहाँ लेखक ने 'मुख्य-विशेष्यता' की सङ्कल्पना का उल्लेख किया है। भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों में यह एक प्रधान सङ्कल्पना है।

इस पर थोडा और विचार करें तो यह बात समझ में आती है कि हर वस्तुस्थिति की अपनी एक रचना होती है। इस रचना में विशेष्य, विशेषण और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध प्रतीत होता है और चूँकि यह रचना ही ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती है, हम इस ज्ञान को विशिष्ट ज्ञान कहते हैं। अब यदि यह विशेषण-विशेष्य की रचना जटिल हो तब इस रचना में एक से अधिक विशेषण-विशेष्य हो सकते हैं। इनमें से कौन विशेषण मुख्य होगा और कौन विशेष्य मुख्य होगा ये दो प्रश्न यहाँ पर प्रासङ्गिक हैं। हमारे दर्शन के अनुसार प्रथमान्त पद का अर्थ मुख्य विशेष्य होता है। कभी कभी एक वाक्य में एकाधिक प्रथमान्त पद होते हैं। जैसे 'जनकानुरक्तोऽयं रामः पूज्यः'। यहाँ 'राम' 'विशेष्य' है और बाकी सारे उसके विशेषण हैं। इनमें से कौन सा मुख्य-विशेष्य है और कौनसा नहीं; कौनसा मुख्य-विशेषण है और कौनसा नहीं?

लेखक ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि वाक्य में जिस विशेषण का विधान किया जाता है वही मुख्य विशेषण होता है और मुख्यविशेषणता से निरूपित विशेष्यता ही मुख्यविशेष्यता होती है। बाकी सारे विशेषण अर्थात् प्रकार मुख्य नहीं होते है अतः उनमें विद्यमान प्रकारताओं से निरूपित विशेष्यता भी मुख्य नहीं होती है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में राम ही मुख्य विशेष्य है परन्तु उसमें दो भिन्न विशेष्यताएँ हैं। एक विशेष्यता जनकानुरक्तत्व से अवच्छिन्न प्रकारता से निरूपित है और दूसरी पूज्यत्व से अवच्छिन्न पूज्य में विद्यमान प्रकारता से निरूपित है। इनमें से दूसरी विशेष्यता ही मुख्य-विशेष्यता है। इसका चित्र ऐसे बनाया जा सकता है—
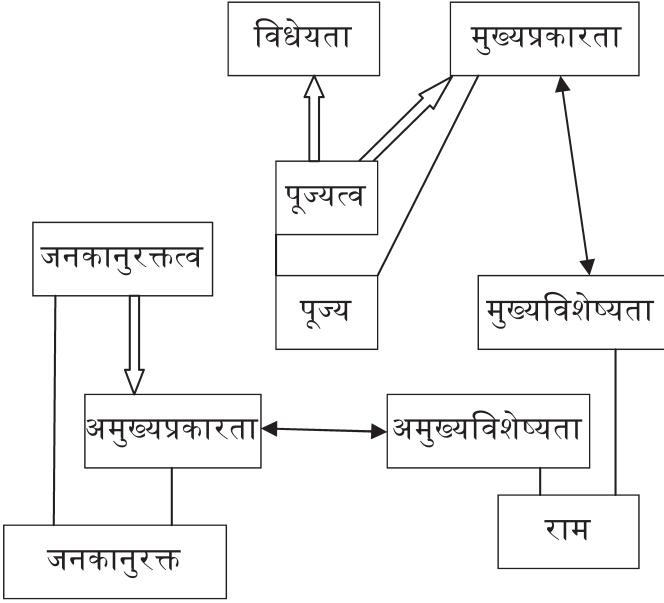
ग्रन्थ ५२

पुनश्च ज्ञानं द्विविधम्, निश्चयः संशयश्चेति। यत्र ज्ञाने एकमेव तदेव तदभाव एव वा प्रकारतया भासते स निश्चयः। यस्मिंस्तु पुनः तद् तदभावश्च उभयमेव भासते स संशयः। यथा 'अयं मानुषः' इति निश्चयः, 'दीर्घोऽयं मानुषो न वा' इति संशयः। पूर्वत्र एकमेव मनुष्यत्वं प्रकारः, परत्र मनुष्यत्वं तदभावश्च उभयमेव प्रकारः। संशये हि एकस्मिन् विशेष्ये प्रतियोगी तदभावश्च परस्परविरुद्धावपि उभौ प्रकारतया भासेते इति नियमः। तत्र भावाभावोभय-प्रकारतानिरूपिता एकैव विशेष्यता भवति। यथा उक्ते उदाहरणे मनुष्यत्वनिष्ठा या प्रकारता एतदुभय-निरूपिता एकैव विशेष्यता अस्मिन् दीर्घे विशेष्ये वर्तते। समूहालम्बनस्थले तु प्रत्येकप्रकारतानिरूपिता पृथक् पृथक् विशेष्यता भवति इति संशयात् समूहालम्बनस्य भेदः। संशये प्रकारस्य कोटिरिति नाम। 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादौ संशये कोटिचतुष्टयमस्ति। स्थाणुत्वं स्थाणुत्वाभावः पुरुषत्वं पुरुषत्वाभावश्चेति।

अत एवायं संशयः चतुष्कोटिक इत्युच्यते। केचित्तु वदन्ति— अत्रापि कोटिद्वयमेवास्ति स्थाणुत्वम्; स्थाणुत्वविरुद्धपुरुषत्वञ्चेति।

हिन्दी अनुवाद

फिर एक और दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान के दो प्रकार होते हैं— निश्चय (अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान) और संशय (अर्थात् अ-निश्चयात्मक ज्ञान)। जिस ज्ञान में केवल एक (वस्तु) अर्थात् एक वस्तु या उसका अभाव प्रकार के रूप में प्रतीत होता है वह निश्चयात्मक ज्ञान होता है परन्तु जिस ज्ञान में वस्तु तथा उसका अभाव दोनों ही प्रतीत होते हैं वह ज्ञान संशय (अर्थात् अनिश्चयात्मक ज्ञान) होता है। जैसे 'यह मनुष्य है' यह निश्चयात्मक ज्ञान है तथा 'यह लम्बा मनुष्य है या नहीं है' यह संशय (ज्ञान) है। पहले में एक 'मनुष्यत्व' ही प्रकार है तथा दूसरे में 'मनुष्यत्व' और 'उसका अभाव' ये दोनों प्रकार हैं। संशय (ज्ञान) में एक ही विशेष्य में प्रतियोगी और उसका अभाव एक दूसरे से विरुद्ध होते हुए भी दोनों प्रकार-रूप में प्रतीत होते हैं यह नियम है। यहाँ पर भाव और अभाव रूप प्रकारता से निरूपित एक ही विशेष्यता होती है। जैसे ऊपर बताए गए उदाहरण में जो मनुष्यत्व में विद्यमान प्रकारता है तथा जो मनुष्यत्व के अभाव में विद्यमान प्रकारता है इन दोनों से निरूपित एक ही विशेष्यता एक लम्बे विशेष्य में विद्यमान है।

समूहालम्बन ज्ञान में हर एक प्रकारता से निरूपित भिन्न भिन्न विशेष्यता होती है यही संशय और समूहालम्बन (ज्ञान) के बीच का अन्तर है। संशय (ज्ञान) में 'प्रकार' के लिए संज्ञा है— कोटि। 'यह वृक्ष है या पुरुष' इत्यादि संशय में चार कोटियाँ हैं— वृक्षत्व, वृक्षत्व का अभाव, पुरुषत्व और पुरुषत्व का अभाव। इसीलिए इसे चतुष्कोटिक (चार कोटियों वाला) संशय कहा जाता है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ भी दो ही कोटियाँ हैं— स्थाणुत्व तथा स्थाणुत्व से विरुद्ध (अर्थात् भिन्न) पुरुषत्व।

टिप्पणी

इस ग्रन्थ में जिन बिन्दुओं की चर्चा की गई है वे हैं—

(१) निश्चय तथा संशय में अर्थात् ज्ञान की इन दो विधाओं का अन्तर;

(२) संशय तथा समूहालम्बन ज्ञान में अन्तर; और

(३) संशय के विषय में भिन्न मत।

(१) एक दृष्टी से देखा जाए तो ज्ञान के निश्चय और संशय ये दो भेद होते हैं। इन दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि निश्चय में केवल एक प्रकारता केवल एक विशेष्यता को निरूपित करती है तथा संशय में एक से अधिक प्रकारताएँ केवल एक विशेष्य को निरूपित करती हैं। संशय का वाक्य की सतह पर प्रमुख चिह्न है 'वा' अर्थात् 'या' जो कि निश्चय ज्ञान में अर्थात् निश्चय को व्यक्त करने वाले वाक्य में कभी नहीं होता है।

(२) संशय ज्ञान तथा समूहालम्बन ज्ञान में केवल यह अन्तर है कि संशय में एक ही विशेष्य और एकाधिक प्रकार होते हैं परन्तु समूहालम्बन ज्ञान में एकाधिक प्रकारताओं से निरूपित विशेष्यताएँ भी एकाधिक होती हैं।

समूहालम्बन ज्ञान उसे कहते हैं जिस ज्ञान का विषय (वस्तुओं का) समूह होता है। परन्तु ध्यान में रखने वाली बात यह है कि यहाँ पर विषय के बारे में कोई सन्देह नहीं होता है। ऐसा इसलिए कि एक एक प्रकारता से निरूपित भिन्न भिन्न विशेष्यता ही इस ज्ञान का विषय होती है अर्थात् अनेक वस्तुओं का समूह इस ज्ञान का विषय होता है। जैसे घट-पट-पुस्तक के समूह का ज्ञान यदि हो तो इसमें घटत्व, पटत्व तथा पुस्तकत्व ये तीन प्रकार रूप से प्रतीत होते हैं परन्तु उनसे निरूपित विशेष्यताएँ यथाक्रम से घट, पट तथा पुस्तक में हैं। इस प्रकार संशय और समूहालम्बन ज्ञान दो भिन्न प्रकार के ज्ञान हैं।

(३) तीसरा बिन्दु है— संशय के विषय में कुछ मतभेद हैं। संशय में कितने प्रकार अर्थात् कितनी कोटियाँ होती है इस विषय में दो मत हैं। हमारे लेखक का मानना है कि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस उदाहरण में संशय की चार कोटियाँ हैं— (१) स्थाणुत्व, (२) उसका अभाव, (३) पुरुषत्व और (४) पुरुषत्व का अभाव। परन्तु इस बात को न मानने वाले दार्शनिकों के मत से, 'यहाँ पर केवल दो ही कोटियाँ हैं और वे हैं स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व। स्थाणुत्व और पुरुषत्व एक दूसरे के अन्योन्याभाव होने के कारण चार कोटियाँ मानने की आवश्यकता नहीं है'।

ग्रन्थ ५३

संशये च क्वचित् कोटिद्वयं समानं भवति। क्वचिच्च काचिदेका कोटिरुत्कटा भवति। 'आश्विने मासि वृष्टिरधिका भवति न वा' इति सन्देहे अधिकवृष्टेः तदभावस्य वा बोधकं किमपि चिह्नम् अधुना नास्तीति नैकापि कोटिरुत्कटा। परन्तु 'भाद्रे मासि वृष्टिर्भवति न वा' इति संशये भाद्रमासस्य वर्षाकालतया वृष्टिकोटिरुत्कटा इत्ययं संशयः उत्कटैककोटिकः। उत्कटैककोटिकः संशय एव 'सम्भावने'त्युच्यते। अत एव, 'भाद्रे मासि वृष्टिर्भवति न वा' इति ज्ञानं सम्भावना इत्यलम्।

हिन्दी अनुवाद

संशय में कभी कभी दोनों कोटियाँ समान होती हैं। कभी कभी एक कोटी उत्कट (अर्थात् अधिक सम्भावना वाली) होती है। 'अश्विन महीने में अधिक वर्षा होती है या नहीं' ऐसा सन्देह होने पर अधिक वृष्टि या उसका अभाव बताने वाला कोई चिह्न ना होने से (इस सन्देह की) एक भी कोटि उत्कट नहीं है, परन्तु 'भाद्रपद महीने में वर्षा होती है या नहीं' इस संशय में भाद्रपद मास वर्षाकाल का महीना होने से वृष्टिकोटि उत्कट है इसलिए यह संशय उत्कट-एक-कोटिक (अर्थात् जिसकी एक कोटि अधिक सम्भावना वाली है ऐसा) है। उत्कटैककोटिक संशय को ही 'सम्भावना' कहा जाता है। इसलिए 'भाद्रपद महीने में वर्षा होती है या नहीं' यह ज्ञान सम्भावना (ज्ञान का उदाहरण) है। इति।

टिप्पणी

इस अन्तिम ग्रन्थ में लेखक ने संशय को 'समान सम्भावना वाला' तथा 'एक सम्भावना अधिक होने वाला' इन दो प्रकारों में विभक्त किया है। उदाहरण से बात स्पष्ट होगी। यदि वर्षाकाल वाले महीने में वर्षा होने के विषय में सन्देह हो तो वर्षा होने की सम्भावना ही अधिक है परन्तु यदि वर्षाकाल को छोड़ किसी महीने में वर्षा होने के विषय में सन्देह हो तो कोई एक सम्भावना प्रबल न होने के कारण दोनो कोटियाँ (प्रायः) समान है।

यहाँ पर लेखक ने 'सम्भावना' नामक प्रमाण का उल्लेख किया है। इसे पौराणिक लोग एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। हमारे लेखक का मानना है कि उत्कटैककोटिक संशय को ही सम्भावना कहते हैं।

यहाँ 'नव्यन्यायभाषाप्रदीप' सम्पूर्ण हुआ।

● ● ●

शब्दसूचि		
१	अंश	= खंड
२	अंशविशेष	= विशिष्ट खंड
३	अखण्ड	= अंशरहित
४	अतिरिक्त	= अधिक
५	अधिकरण	= आधार
६	अनुयोगिन्	= आधार
७	अन्योन्याभाव	= भेद, भिन्नता
८	अभाव	= न होना
९	अभ्युपगम	= दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त
१०	अवच्छिन्न	= (१)नियमित (२)विशिष्ट
११	अवच्छेदक	= (१)नियामक (२)विशेषण
१२	अवच्छेदकता	= नियामकता
१३	अवयव	= अंश
१४	अवयविन्	= अंशिन्
१५	अवृत्ति-पदार्थ	= जिसका कोई आधार नहीं ऐसी वस्तु
१६	अव्याप्यवृत्ति	= समूचे आधार को व्याप्त कर न रहने वाला पदार्थ
१७	असंसृष्ट	= अ-सम्बद्ध
१८	आकाश	= अवकाश
१९	आधार	= अधिकरण, आश्रय
२०	आधेय	= आश्रित
२१	आधेयता	= आश्रित का धर्म
२२	आश्रय	= आधार
२३	इच्छा	= चाह, कामना

२४	उच्चरित	= बोला हुआ
२५	उत्कटैककोटिक संशय	= एक कोटि की अधिक सम्भावना वाला संशय
२६	उद्देश्य	= विशेष्य
२७	उपाधि	= जातिभिन्न, प्रायः एक वस्तु में रहने वाला धर्म
२८	ऐक्य	= एकता, अभेद
२९	कणाद	= वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार
३०	कर्मन्	= क्रिया
३१	कारण	= कारण
३२	कारणता	= कारण का भाव
३३	कार्यता	= कार्य का भाव
३४	कालविशेष	= समय का विशिष्ट अंश
३५	कालिक	= कालसम्बन्धि
३६	क्रिया	= कर्म
३७	खण्डकाल	= काल का अंश
३८	चतुष्कोटिक संशय	= चार कोटियों वाला संशय
३९	चिह्न	= लक्षण
४०	जाति	= सामान्य
४१	ज्ञान	= भान
४२	तादात्म्य	= अभेद
४३	तृतीय प्रत्यक्ष	= तीसरा प्रत्यक्ष ज्ञान
४४	तृतीयाभाव	= तीसरा अभाव (क्ष के अभाव के अभाव का अभाव)
४५	देशविशेष	= विशिष्ट स्थान
४६	द्वितीय प्रत्यक्ष	= दूसरा प्रत्यक्ष ज्ञान (सविकल्पक प्रत्यक्ष)
४७	द्वितीयाभाव	= दूसरा अभाव (क्ष के अभाव का अभाव)
४८	द्रव्य	= गुण का आधार

४९	धर्म	= आधेय, आश्रित
५०	धर्मिन्	= आधार, आश्रय
५१	नित्य	= अनश्वर
५२	नियत	= सदा घटने वाला
५३	नियामकत्व	= नियामक का धर्म
५४	निरवच्छिन्न	= (१)नियामक के बिना = (२)प्रकार के बिना
५५	निरूप्य-निरूपक-भाव	= एक दूसरे का वर्णन करने वाली दो वस्तुओं का सम्बन्ध
५६	निर्विकल्पक	= शब्द में व्यक्त न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान
५७	निश्चय	= निश्चयात्मक ज्ञान
५८	पक्षता	= पक्ष का धर्म (संदर्भ : अनुमान)
५९	पदार्थ	= वस्तु
६०	परम्परा (संबंध)	= संबंध जो साक्षात् न हो
६१	परस्पर-नियत-सापेक्ष	= एक दूसरे पर सदा निर्भर रहने वाले
६२	पर्यवसान	= समाप्ति
६३	पर्याप्ति	= एकसाथ एकसमयपर एकाधिक अधिकरणों में रहने वाला सम्बन्ध
६४	प्रकार	= विशेषण (अधिकतर ज्ञान-इच्छा और कृति के संदर्भ में)
६५	प्रकारता	= प्रकार का भाव
६६	प्रयोग	= व्यवहार
६७	प्रतिबन्धक	= विरोधक
६८	प्रतियोगिता	= विरोधिता
६९	प्रतियोगिन्	= (१)विरोधि (२)सम्बन्धि (३)उपमान

७०	प्रतियोगि-समानाधिकरण	= प्रतियोगि के आधार में रहने वाला
७१	प्रतियोगि-व्यधिकरण	= प्रतियोगि से भिन्न आधार में रहने वाला
७२	प्रतीति	= ज्ञान
७३	प्रथम-प्रत्यक्ष	= पहला प्रत्यक्ष ज्ञान (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष)
७४	प्रथमाभाव	= पहला अभाव (क्ष का अभाव)
७५	प्रयोजक	= कारण
७६	भावत्व	= भावपदार्थ का भाव (अभाव के विरुद्ध)
७७	भावप्रत्यय	= भाववाचक प्रत्यय ('त्व', 'ता')
७८	भेद	= अन्योन्याभाव, भिन्नता
७९	महाकाल	= एक अखण्ड काल
८०	मुख्यप्रकारता	= प्रधान विशेषण का भाव
८१	रूप	= (१)रङ्ग (२)सुन्दरता
८२	रूपत्व	= रङ्ग का भाव
८३	वस्तु	= पदार्थ
८४	विधेय	= जिसका विधान होता है
८५	विधेयता	= विधेय का भाव
८६	विशिष्ट	= विशेषण से सम्बद्ध
८७	विशिष्ट बुद्धि	= जिस ज्ञान में विशेषण-विशेष्य और उनका सम्बन्ध भासमान हो
८८	विशेष	= वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत स्वतन्त्र पदार्थ
८९	विशेषण	= विशेषक, व्यावर्तक
९०	विशेषणता	= विशेषण का भाव
९१	विशेषधर्म	= असाधारण धर्म
९२	विशेष्य	= विशेषण-विशिष्ट
९३	विशेष्यता	= विशेष्य का भाव

९४	विशेष्यतावच्छेदक-अवच्छेदेन	= विशेष्यता के अवच्छेदक के साथ समव्याप्त
९५	विशेष्यतावच्छेदक-सामानाधिकरण्येन	= विशेष्यता के अवच्छेदक के आधार पर होना
९६	विषयता	= विषय का भाव
९७	विषयिता	= विषयि का भाव
९८	वृत्ति-अनियामक	= आधार-आधेय-भावक का ज्ञान न कराने वाला
९९	वृत्तिता	= आधेयता
१००	वृत्तिनियामक	= आधार-आधेय-भाव का ज्ञान कराने वाला
१०१	वैलक्षण्य	= विलक्षण का भाव
१०२	व्यासज्यवृत्ति	= सभी अधिकरणों में विद्यमान
१०३	शब्द	= (१)पद (२)भाषा
१०४	संयोग	= दो द्रव्यों में ही होने वाला सम्बन्ध
१०५	संशय	= सन्देह
१०६	संसर्गाभाव	= अभेद-सम्बन्ध-भिन्न सम्बन्ध से अभाव
१०७	सखण्ड	= अंशों सहित
१०८	सन्निकर्ष	= सम्बन्ध
१०९	समवाय	= नित्य सम्बन्ध
११०	समूहालम्बन ज्ञान	= जिस ज्ञान का विषय वस्तुओं का समूह हो
१११	सम्बन्ध	= दो वस्तुओं का जुड़ना
११२	सम्बन्धिन्	= जिन दो वस्तुओं में सम्बन्ध होता है, उनमें से एक
११३	सम्भावना	= सम्भव (प्रमाण)
११४	सविकल्पक	= शब्दों में व्यक्त किया जा सके ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान

११५	साध्य	= (१)जिसका ज्ञान होता है (२)अनुमिति का विषय
११६	साध्यता	= साध्य का भाव
११७	सापेक्षधर्म	= नैमित्तिक धर्म
११८	सामानाधिकरण्य	= एक अधिकरण में होना
११९	सामान्य	= जाति
१२०	सामान्य धर्म	= साधारण धर्म
१२१	सिद्ध	= ज्ञान
१२२	सिद्धान्त	= निष्कर्ष, निर्णय
१२३	स्वरूप-सम्बन्ध	= संयोग तथा समवाय से भिन्न सम्बन्ध
१२४	हेतुता	= हेतु का भाव

संदर्भग्रंथसूची

1. **Bibliography of Nyaya-Vaisheshika,** Jha, V N. (General Editor), University of Pune, CASS Bibliography Series, Class H, No 1, Pune, 1993
2. **Edition and English translation of Vishayatavada of Harirama Tarkalankara,** Jha, V N., University of Pune, CASS H, Class C, No. 16, Pune, 1987
3. **Epistemology, Logic and Grammar in Indian Philosophical Analysis,** Matilal B. K , Paris, 1971
4. **Navya Nyaya Doctrine of Negation,** Matilal B. K, Harvard University Press, 1968
5. **Navya-Nyaya System of Logic,** Guha, D C. Motilal Banarsidass, New Delhi, 1968 (2nd Ed. 1979)
6. **Studies in Language, Logic and Epistemology,** Jha, V N. Pratibha Prakashan, New Delhi, 1986

प्राचीन श्रुतसंपदा के समुद्धार के लिए समुदार सहयोग देनेवाले महानुभावों की नामावली

श्रुतसमुद्धारक

श्रीमती चंद्रकलाबेन सुंदरलाल शेठ परिवार (मांगरोळ हाल- पुणे)

श्रुतरत्न

श्री भाईश्री (इंटरनेशनल जैन फाउंडेशन, मुंबई)

श्रुतसंरक्षक

श्री हसमुखभाई दीपचंदभाई गार्डी (दुबई)

श्री भवानीपुर जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ (कोलकाता)

श्री दीपकभाई विनोदकुमार शहा (तळेगाव दाभाडे, पुणे)

पूज्य सा.श्री **जिनरत्नाश्रीजी** म. की प्रेरणा से
श्री अंकलेश्वर श्वे.मू. जैन संघ (अंकलेश्वर)

श्रीमती ज्योतिबेन नलिनभाई जीवतलाल दलाल परिवार

श्री माणेकचंद नेमचंद शेठ चॅरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई।

श्रुतस्तंभ

पू.सा.श्री **हर्षरेखाश्रीजी** म.की प्रेरणा से
श्रीमती वसंतप्रभाबेन कांतिलाल शाह (पुणे)

पू.आ.श्री **विश्वकल्याणसू.**म.की प्रेरणा से श्री पद्ममणि जैन श्वे.मू. ट्रस्ट

पू.आ.श्री **राजरत्नसू.**म.की प्रेरणा से श्री जवाहरनगर
श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (गोरेगाव, मुंबई)

हितेन नलिनभाई दलाल

श्रुतभक्त

श्री शांतिकनक श्रमणोपासक ट्रस्ट (सुरत)

श्री हसमुखलाल चुनिलाल मोदी चॅरिटेबल ट्रस्ट (तारदेव, मुंबई)

श्री पार्श्वनाथ श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (मुंबई)

श्री ऋषभ अपार्टमेंट महिला मंडल (प्रार्थना समाज, मुंबई)

वर्धमानपुरा जैन संघ (पुणे)

जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ (दहाणुकरवाडी, कांदीवली, मुंबई)

सुजय गार्डन जैन संघ (पुणे)

श्री रविकांत चौधरी (वेपेरी, चेन्नई)

पूज्य मु.श्री **प्रशमरतिविजयजी** म. की प्रेरणा से
श्री सुमतिनाथस्वामी जैन श्वे.मू.संघ (रामदास पेठ, नागपुर)

पू. सा.श्री **तत्त्वरक्षिताश्रीजी** म.सा. की प्रेरणा से
श्री सीमंधर शांतिसूरि श्राविका संघ, व्ही.व्ही.पुरम्, बेंगलोर।

पू.पं.श्री **मोक्षरति-तत्त्वदर्शनवि.**ग. की प्रेरणा से
श्री अलकापुरी जैन श्वेतांबर मुर्तिपूजक संघ, वडोदरा।

श्रीम. कल्पनाबेन एवं सुधीरभाई एस. कापडिया परिवार, (मुंबई)

श्री मरचन्ट सोसायटी जैन संघ, अहमदाबाद

श्रुतप्रेमी

श्री गोडीजी टेम्पल ट्रस्ट (पुणे)

श्री गोडीजी टेम्पल ट्रस्ट (पायधुनी, मुंबई)

श्री रतनचंदजी ताराचंदजी परमार (पुणे)

श्री मोहनलालजी गुलाबचंदजी बांठीया (पुणे)

श्री नगराजजी चंदनमलजी गुंदेचा (पुणे)

श्री नेमीचंदजी कचरमलजी जैन (पुणे)

श्री भरतभाई के. शाह (सुयोग ग्रुप, पुणे)

श्री सोहनलालजी टेकचंदजी गुंदेचा (पुणे)

श्री सुखीमलजी भीमराजजी छाजेड (पुणे)

श्री जैन आशापुरी ग्रुप (पुणे)

श्री महेंद्र पुनातर (मुंबई)

श्री सुधीरभाई चंदुलाल कापडिया (मुंबई)

श्री संजयभाई महेंद्रजी पुनातर (मुंबई)

प्रो.श्रीमती विमल बाफना (पुणे)

पू.सा.श्री **नंदीयशाश्रीजी** म.की प्रेरणा से श्री आंबावाडी जैन संघ (अहमदाबाद)

श्री गोवालिया टेंक जैन संघ (मुंबई)

श्री मोतीशा लालबाग रिलीजीयस चेरिटेबल ट्रस्ट (भायखला, मुंबई)

पू.आ.श्री **तीर्थभद्रसू.**म.की प्रेरणा से

जे. सी. कोठारी देरासर जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ (मलाड, मुंबई)

श्री अशोक कालिदास कोटेचा (अहमदाबाद)

श्री विमलनाथस्वामी जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (बिबवेवाडी, पुणे)

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (लेकटाउन सो., पुणे)

श्री श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (सोलापुर बजार, पुणे)

पू. मुनिराज श्री **निर्मलयशविजयजी** म.सा. की प्रेरणा से
श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक गुजराती पंच (मालेगाव)

सायन जैन संघ (मुंबई)

श्रुतोपासिका सा. **चंदनबालाश्रीजी** की शुभ प्रेरणा से
मातुश्री सरस्वतीबहेन कानजी वोरा (दादर, मुंबई)

पू.आ.श्री **विश्वकल्याणसू.**म. की प्रेरणा से
श्री आदिनाथ जिन मंडळ (कर्वे रोड, पुणे)

पू.सा.श्री **सूर्यमालाश्रीजी** म. की प्रेरणा से
श्री सम्यक् साधना रत्नत्रय आराधक ट्रस्ट (अहमदाबाद)

श्री नाकोडा भैरव राजस्थानी जैन टेम्पल तथा

जैन फिलॉसॉफी रिसर्च ट्रस्ट (आळंदी)

श्री आदेश्वर महाराज जैन टेम्पल ट्रस्ट (गोटीवाला धडा, पुणे)

श्री ओमप्रकाशजी नगराजजी रांका (रांका ज्वेलर्स, पुणे)

श्री सिद्धशिला ग्रुप श्री विलासजी राठोड (पुणे)

डॉ. सुमतिलाल साकळचंद गुजराथी (हस्ते - कल्याणी मेडिकल, पुणे)

श्री जैन श्वेतांबर दादावाडी टेम्पल ट्रस्ट (पुणे)

व्ही.एल. जैन (पुणे)

वीरविभु के १९ वे पट्टधर गच्छाधिपति पू. आ. श्री **हेमभूषणसूरिजी** म.सा. की पुण्यस्मृति में संघवी वीरचंद हुकमाजी आयोजित चातुर्मास समिति, पालीताणा।

गच्छाधिपति पू. आ. श्री **महोदयसूरिजी** म.सा. के अनन्य पट्टधर गच्छाधिपति पू. आ. श्री **हेमभूषणसूरिजी** म.सा. की पुण्यस्मृति में संघवी वीरचंद हुकमाजी परिवार आयोजित चातुर्मास समिति (पालीताणा)

श्रुतोपासक

श्री अर्थप्राईड जैन संघ (मुंबई)

पू.आ.श्री **कलाप्रभसागरसू.**म.की प्रेरणा से
श्री मुलुंड श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (मुंबई)

पू.मु.श्री **जिनरत्नवि.**म.की प्रेरणा से श्री आदिनाथ सोसायटी जैन संघ (पुणे)

पू. उपा. श्री **जितेंद्रमुनिजी** म.की प्रेरणा से श्रीमती सीमा जैन (होशियारपुर, पंजाब)

श्री वर्धमानस्वामी जैन चेरिटेबल ट्रस्ट (सदाशिव पेठ, पुणे)

पू.आ.श्री **तीर्थभद्रसू.**म.की प्रेरणा से मातुश्री कमळाबेन गिरधरलाल वोरा परिवार (खाखरेची, मुंबई) आयोजित उपधान तप समिति

पू.आ.श्री **तीर्थभद्रसू.**म.की प्रेरणा से मातुश्री मानुबेन माडण गुणसी गडा परिवार (थोरीयारी- मुंबई) आयोजित उपधान तप समिति

प्रताप बी. शाह (वडोदरा)

पूज्य आ.श्री **देवचंद्रसागरजी** म. की प्रेरणा से श्री आगमोद्धारक

देवर्धि जैन आगम मंदिर ट्रस्ट (पुणे)

श्री गोवालिया टैंक जैन संघ, मुंबई।

श्री मरीन ड्राईव्ह जैन आराधक ट्रस्ट, मुंबई।

पू. मु. श्री **शुक्लध्यानविजयजी** म.सा. की प्रेरणा से
श्री रिद्धि सिद्धि आदर्श श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (मलाड, मुंबई)

पू. आ.श्री **यशप्रेमसुरिजी** म.सा. की प्रेरणा से
भाववर्धक श्री सुपार्श्वनाथ स्वामी श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (अहमदाबाद)

पू.मु.श्री **पुण्यरक्षितविजयजी** म.सा.की प्रेरणा से
श्री धन्ना शालिभद्र तपागच्छ श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (मलाड, मुंबई)

श्री वर्धमान स्वामी जैन चेरिटेबल ट्रस्ट (सदाशिव पेठ, पुना)

पू. उपा.श्री **भुवनचंद्रविजयजी** म.सा. की प्रेरणा से
श्री कच्छ दुर्गापूर विशा ओसवाल मूर्तिपूजक जैन महाजन (मुंबई)

श्रुतानुरागी

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (फातिमानगर, पुणे)

श्री जैन आत्मानंद सभा (फरिदाबाद, पंजाब)

पू.मु.श्री **जिनरत्नवि.**म.की प्रेरणा से श्री जिनरत्न आनंद ट्रस्ट

गोत्रीरोड श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (वडोदरा)

श्री श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ (गोरेगाव, मुंबई)

श्री मुनिसुव्रतस्वामी जिनालय (मलाड, मुंबई)

मातोश्री श्रीमती लीलाबाई अचलचंदजी जैन हस्ते - अशोक जैन (हिंगड)

चि. सांची सागर चोरडीया हस्ते - सौ सुनंदा संजय चोरडीया (जैन जागृति, पुणे)

अरिहंत वासुपूज्य स्वामी जैन श्वेतांबर ट्रस्ट (सुरत)